॥ ओ३म् ॥

उपदेशमञ्जरी

अर्थात्

श्री १०८ स्वामी दयानन्द

सरस्वती-जी के

१५ व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद.

जिसको

उक्त स्वामीजी ने पूनानगर में वर्णन किया था.

उसीको

महाशय श्यामलाल धम्मा आयबुकसलर

बांसबरेली ने.

श्रीमान् पण्डित बदरीदत्त शर्म्मा कानपुर द्वारा

सरल और मनोहर भाषा में अनुवाद

कराके प्रकाशित किया.

तृतीयवार
२००० सन् १९१५

Printed by D. C. Banerjee at the Anglo-Oriental Press, Lucknow.

गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ पुस्तकालय
पु. संग्रहण क्रमांक .. 400
दयानन्द महिला महा

❀ सूचीपत्र ❀

व्याख्यन.	विषय.	पृष्ठ.
१	ला.-ईश्वर-सिद्धि	
२	रा.-ईश्वर-सिद्धि विषय पर वाद विवाद ...	
३	रा.-धर्म्माधर्म्म	१
४	था.-धर्म्माधर्म्म विषय पर शंका समाधान...	३
५	वां.-वेद	५
६	ठां.-जन्म	७
७	वां.-यज्ञ और संस्कार	९
८	वां.-इतिहास	११
९	वां.-इतिहास	१३
१०	वां.-इतिहास	१५
११	वां.-इतिहास	१७
१२	वां.-इतिहास	१९
१३	वां.-इतिहास	२१
१४	वां.-नित्यकर्म्म और मुक्ति	२३
१५	वां.-स्वयं कथित जीवन-चरित्र ...	२५

❀ इति ❀

D27 U
11006

* ओ३म् *

उपदेशमञ्जरी ।

श्री १०८ दयानन्द सरस्वती जी का प्रथम व्याख्यान ।

ईश्वर सिद्धि विषयक ।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने पूने के बुधवार पे में के भिड़े के वाड़े में तारीख ४ जौलाई सन् १८७५ ई दिन, रात्रि समय में व्याख्यान दिया था उस का सारांः निम्न लिखित है:—

ओ३म् शन्नोमित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य मा शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि—

इत्यादि पाठ स्वामीजी ने प्रथम कहा—

ओ३म् यह ईश्वर का सर्वोत्कृष्ट नाम है क्योंकि इसमें उसके सब गुणों का समावेश होता है।

ईश्वर की सिद्धि प्रथम करनी चाहिये पश्चात् धर्म्म प्रबन्ध का वर्णन करना योग्य है, क्योंकि 'सतिकुड्ये चित्रम्' इस न्याय से जब तक ईश्वर की सिद्धि नहीं हुई तब तक धर्म्म व्याख्यान करने का अवकाश नहीं।

यजुः सं०

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धम पापविद्धम । कविर्मनीषी परिभूः स्वय म्भूर्याथातथ्यतोर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः स माभ्यः ॥ न तस्य कार्य्यं करणं च परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते । स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च ॥

यह वाक्य कहकर स्वामी जी ने उसकी व्याख्या की मूर्ति देवताओं में ये गुण नहीं लगते इस लिये मूर्तिपूजा निषिद्ध है इस पर यदि कोई ऐसी शंका करे कि रावणादिकों के सदृश दुष्टों का पराभव करने के लिये और

भक्तों की मुक्ति होने के अर्थ अवतार लेना चाहिये, परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इस से अवतार की आवश्यकता दूर होती है क्योंकि इच्छा मात्रही से वह [illegible] का नाश करसक्ता था, इसी प्रकार भक्तों को उपासना करने के लिये ईश्वर का कुछ न कुछ अवतार होना चाहिये ऐसा भी बहुत से भोले लोग कहते हैं परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्यों कि शरीरस्थित जो जीव है वह भी आकार रहित है यह सब कोई मानते हैं अर्थात् वैसा आकार न होते भी हम परस्पर एक दूसरे को पहिचानते हैं और प्रत्यक्ष कभी न देखते भी केवल गुणानुवादों ही से सद्भावना और पूज्य बुद्धि मनुष्य के विषय रखते हैं उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध से नहीं होसक्ता यह कहना ठीक नहीं है, इसके सिवाय मनका आकार नहीं है मन द्वारा परमेश्वर ग्राह्य है उसे जड़ेन्द्रिय ग्राह्यता लगाना यह अप्रयोजक है श्रीकृष्ण जी एक भा पुरुष थे उनका महाभारत में उत्तम वर्णन किया हुआ है परन्तु भागवत में उन्हें सब प्रकार के दोष लगाकर दुर्गुणों का बाज़ार गरम कर रक्खा है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इस से शक्तिमान् का अर्थ क्या है ? "कर्तुमकर्तु अन्यथा कर्तुम्" ऐसी शक्ति से तात्पर्य नहीं है किन्तु सर्व शक्तिमान् का अर्थ न्याय न छोड़ते काम करने की शक्ति रखना यही सर्वशक्तिमान् से तात्पर्य है, कोई २ कहते हैं कि ईश्वर ने अपना बेटा पाप मोचनार्थ जगत् में भेजा, कोई कहते हैं कि पैगम्बर को उपदेशार्थ भेजा सो यह सब कुछ करने की परमेश्वर को कुछ भी आवश्यकता न थी क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है।

बल, ज्ञान और क्रिया ये सब शक्ति के प्रकार हैं, बल ज्ञान क्रिया अनन्त होकर स्वाभाविक भी है, ईश्वर का आदि कारण नहीं है। आदि कारण मानने पर अनवस्था प्रसंग आता है, निरीश्वरवाद की उत्पत्ति सांख्य शास्त्र पर से हुई प्रतीत होती है, परन्तु सांख्य शास्त्रकार कपिल मुनि निरीश्वरवादी न थे, उनके सूत्रों का आधार लेकर कपिल निरीश्वरवादी थे ऐसा कोई २ कहते हैं परन्तु उन के सूत्रों का अर्थ बराबर नहीं किया जाता, वे सूत्र निम्न लिखित हैं—

ईश्वरा सिद्धेः।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।
उभयथाप्यसत्करत्वम् मुक्तात्मनः प्रशंसा
उपासादि सिद्धस्य वा ॥

इत्यादि, परन्तु सूत्रसाहचर्य से विचार करने पर ईश्वर एकही है दूसरा नहीं है ऐसा भगवान् कपिल मानते थे, क्योंकि उनका सिद्धान्त था कि पुरुष है, वही पुरुष सहस्रशीर्षादि सूत्रों में वर्णन किया हुआ है, उसी के सम्बन्ध से—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।

इत्यादि कहा हुआ है, प्रमाण बहुत-प्रकार के हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इत्यादि, भिन्न भिन्न शास्त्रकार प्रमाणों की भिन्न २ संख्या मानते हैं।

मीमांसा शास्त्रकार जैमिनि जी दो प्रमाण मानते हैं, गौतम न्याय शास्त्रकार आठ, कोई २ अन्य न्यायशास्त्रकार चार, पतञ्जलि योगशास्त्रकार तीन प्रमाण, सांख्यशास्त्रकार तीन और चार, वेदान्त में छः प्रमाण स्वीकार किये हैं, परन्तु भिन्न २ संख्या मानना यह उस शास्त्रकार के

विषयानुरूप है, सारे प्रमाणों का अन्तर्भाव करके ३ तीन प्रमाण अवशिष्ट रहते हैं।

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन प्रमाणों की लाघिका कर ईश्वर सिद्धि विषय यत्न करते समय प्रत्यक्ष की लाघिका करने के पूर्व अनुमान की लाघिका करनी चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष का ज्ञान बहुत संकोचित और क्षुद्र है, एक व्यक्ति के इन्द्रिय द्वारा कितना कुछ ज्ञान होसक्ता है ? अर्थात् बहुत ही थोड़ा होता है। इस से प्रत्यक्ष को एक ओर रख कर शास्त्रीय विषयों में अनुमान प्रमाण ही विशेष गिना गया है, अनुमान के बिना भविष्यदाचरण के विषय हमारा जो दृढ़ निश्चय रहता है वह निरर्थक होगा, कल सूर्य उदय होगा यह प्रत्यक्ष नहीं तथापि इस विषय में किसी के मन में जरा भी शङ्का नहीं होती, अब अनुमान के तीन प्रकार हैं, शेषवत्, पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्टम्, पूर्ववत् अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान, शेषवत् अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान, सामान्यतोदृष्ट अर्थात् जिस प्रकार की संसार में व्यवस्था दिखलाई देती

है उस पर से जो अनुमान होता है वह, इन तीनों अनुमानों की लापिका करने से ईश्वर परम पुरुष सनातन ब्रह्म सब पदार्थों का बीज है ऐसा सिद्ध होता है, रचना रूपी कार्य दीखता है इस पर से अनुमान होता है कि इसका रचनेवाला अवश्य कोई है, पंचभूतों की सृष्टि आप ही आप रचीहुई नहीं है क्योंकि व्यवहार में घर का सामान विद्यमान होने ही से केवल घर नहीं बन जाता, यह हम देखते हैं यही अनुभव सर्वत्र है, विश्रब्ध नियमित प्रमाण से और विशिष्टकार्य उत्पन्न होने की सुलभता के विना कभी भी, आप स्वयं घटना नहीं होती, तो इस स्पष्ट है कि सृष्टि की व्यवस्था जो हम देखते हैं उस का उत्पादक और नियंता ऐसा कोई श्रेष्ठ पुरुष अवश्य होना चाहिये, अब किसी की यह अपेक्षा लगे कि ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष ही प्रमाण होना चाहिये, तो उसका विचार यूं है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण का ज्ञान होता है, गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य उस का ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता, वैसा ही ईश्वर सम्बन्धी गुण का ज्ञान चेतन और अचेतन सृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष होता है, इसी

पर से इस गुणका अधिकरण जो ईश्वर उसका ज्ञान होताहै ऐसा समझना चाहिये।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।

हिरण्यगर्भ का अर्थ शालिग्राम की बटिया नहीं है किन्तु हिरण्य अर्थात् ज्योति जिस में है वह ज्योतिरूप परमात्मा ऐसा अर्थ है, मूर्तिपूजा का पागलपना लोगों में फैला हुआ है इसे क्या करना चाहिये यह एक प्रकार की ज़बरदस्ती है, मूर्ति पूजा का आडम्बर जैनियों से हिन्दू लोगों ने लिया है।

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति।
नान्यद्विजानाति स भूमा परमात्मा॥

वह अमृत है और वही सब के उपासना करने योग्य है और उस से जो भिन्न है वह सब झूठ है, वह अपना आधार नहीं है॥ ओ३म् शांतिः शांतिः शांतिः॥

—:※-०-※:—

मंगलवार तारीख ६ जौलाई १८७५

श्री १०८ दयानन्द सरस्वती जी के ईश्वर विषयक द्वितीय व्याख्यान पर हुए वाद विवाद का सारांश।

—:*:—

प्रश्न—कार्य और कारण भिन्न २ है या किस प्रकार?

उत्तर—कहीं २ अभिन्न है और कहीं २ भिन्न भी है, जैसे—मृत्तिका से बना हुआ घट मृत्तिका ही रहता है, परन्तु मांस शोणित से नख उत्पन्न होते हैं तथापि मांस शोणित ये नख नहीं हैं, इसी प्रकार मकड़ी के पेट से जाला उत्पन्न होता है परन्तु इस से मकड़ी जाला नहीं होती।

गोमयाऽजायते वृश्चिकः।

तौ भी गोबर और बिच्छू क्या कभी एकही होसक्ते हैं? सर्वशक्तिमान् चैतन्य में चेतन पर सर्वशक्तित्व चैतन्य निवृत्य कारण है अर्थात् सामर्थ्य के कारण होता है, इस स्थल पर जड़ पदार्थ जो विश्व का उपादान कारण वह और निमित्त कारण चेतन एक नहीं है, अब—

एकमेवाद्वितीयम ।

ऐसी श्रुति है उसका अर्थ करने के लिये इस ऊपर की व्यवस्था से आपत्ति नहीं आती, कारण अद्वितीय अर्थात् ईश्वर ही उपादान हुआ ऐसा नहीं, कारण भेद तीन प्रकार का होता है कभी २ स्वजातीय भेद रहता है तो कभी २ विजातीय और कभी स्वगत भेद होता है। अद्वितीय है अर्थात् सब जो कुछ है वह ईश्वर ही है ऐसा अर्थ आधुनिक वेदान्त में लेते हैं परन्तु यह अर्थ काम का नहीं किन्तु अद्वितीय का अर्थ दूसरा ईश्वर नहीं अर्थात् एक ही ईश्वर है और वह संयुक्त नहीं यही अर्थ है, अब—

ईश्वरः सर्वसृष्टिं प्राविशत् ।

ऐसे अर्थ की श्रुति है तो अब उसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिये ? अथवा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

इस वाक्य का अर्थ कैसा करें ? आधुनिक वेदांती 'इदंविश्व' ऐसा मानकर उस शब्द का अन्वय सर्व इस

की ओर करते हैं परन्तु साहचर्य अर्थात् ग्रंथ का अगला पिछला अभिप्राय इस की ओर दृष्टि देने से इदं शब्द का अन्वय ब्रह्म शब्द की ओर करना पड़ता है 'इदं सर्वं घृतम' अर्थात् यह बिलकुल घी ही तेल मिश्रित नहीं, उसी तरह यह ब्रह्म नाना वस्तुओं से मिश्रित नहीं ऐसा सर्व शब्द का अर्थ है, ऐसा अर्थ करने से ऊपर के हमारे कहे अनुसार श्रुति का अर्थ होने में दिक्कत नहीं रहती 'नाना वस्तु ब्रह्मणि' अथवा बृहदारण्यकोपनिषद में 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनो वेद' अथवा यस्य आत्मा शरीरम्' इस वाक्य के अर्थ के विषय आपत्ति आवेगी इस का विचार करना चाहिये, एक ही शरीर के स्थान में व्यापक और व्याप्य इन दोनों धर्मों की योजना नहीं करते बनती, गृह आकाश में स्थित है और आकाश यह व्यापक होकर गृहव्याप्य है इस लिये आकाश और गृह ये एक ही हैं वा अभिन्न हैं, ऐसा अनुमान निकालते नहीं आता, इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये अभिन्न हैं ऐसा कहने का अवकाश नहीं रहता।

अहं ब्रह्मास्मि।

इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो यह अत्यन्त प्रीति का उदाहरण है, यही लौकिक दृष्टान्त पर से स्पष्ट होता है, जैसे मेरा मित्र अर्थात् मैं ही हूँ ऐसा कहते हैं परन्तु मैं और मेरा मित्र इन दोनों की सर्वथैव अभिन्नता है ऐसा फलितार्थ नहीं होता, समाधिस्थ होते समय "तत्व मसि" ऐसा मुनि लोग कह गये परन्तु साहचर्य की ओर ध्यान देने से मुनियों का यह भाषण जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न है इस मत का पोषक नहीं होता, क्योंकि इसी वचन के उत्तर भाग में इस सारे स्थूल और सूक्ष्म जगत् में कारण सम्बन्ध से परमात्मा का ऐतरात्म्य है परमात्मा का आत्मा दूसरा नहीं 'स आत्मा' वही आत्मा है 'तदंतर्यामि त्वमसि' जो सब जगत् का आत्मा वह तेराही है इस लिये जीवात्मा और परमात्मा इनके बीच परस्पर सेव्य सेवक, व्याप्य व्यापक, आधाराधेय ये सम्बन्ध ठीक जमते हैं, ऐतरेयोपनिषद् में—

"प्रज्ञानं ब्रह्म"

ऐसा वाक्य है, उसके महावाक्य विवरण में—

"प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म"

ऐसा विस्तार किया हुआ है, फिर भी परमेश्वर ही सृष्टि बना ऐसा अर्थ "तत्सृष्टिं प्राविशत्" इस वाक्य पर से करने पर कार्य कारण की अभिन्नता होती है, यदि ईश्वर ज्ञानी है तो अविद्या माया आदिकों के स्वाधीन होकर सृष्टिव्युत्पत्ति का कारण हुआ ऐसा कहने में उस को भ्रान्ति हुई ऐसा प्रतिपादन करना पड़ता है, देश काल वस्तु परिच्छेद है वहां भ्रान्ति है, यही भ्रान्ति ब्रह्म को हुई यह मानने से ब्रह्म का ज्ञान अनित्य ठहरता है, यह विचारणीय वार्त्ता है, इसी तरह जीव भावना भ्रान्ति का परिणाम है भ्रान्ति दूर होने से जीव ब्रह्म होता है यह समझ ठीक नहीं क्योंकि भ्रान्ति परमात्मा में नहीं संभव होती, आधुनिक वेदान्तियों की सदृश मुक्ति को समझ लेने पर ब्रह्म को अनिर्मोक्ष प्रसंग आता है, जीव और ब्रह्म को यदि एक कहें तो जीव में ब्रह्म के गुण नहीं हैं जीव को अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्य नहीं, यदि हम ब्रह्म बनजावें तो हम जगत् भी रचलेवें, इस से पुनः एक दफे और कहना पड़ा कि विश्व जड़ ब्रह्म चेतन है और इनका आधाराधेय, सेव्य सेवक, व्याप्य

व्यापक सम्बन्ध है, "सुखमवाप्सम्" इस अनुभव की योजना करते बनती है क्योंकि चैतन्य यह नित्यज्ञानी है, तैत्तिरीयोपनिषद में आनन्दमय कोश के अवयव वर्णन किये हुये हैं, सारांश जीव ब्रह्म नहीं, जगत् ब्रह्म नहीं, इस स्थल पर कार्य कारण भिन्न २ हैं यही प्रकार सत्य है परन्तु अखिल सजीव और निर्जीव पदार्थ ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से निर्माण किये वह सामर्थ्य इसी के पास सदा रहती है इस तात्पर्य से भेद नहीं आता।

प्रश्न २–तुम कहते हो कि अवतार नहीं हुए तो ईश्वर को सगुण वा निर्गुण क्यों मानते हो?

उत्तर–प्राकृत जनों में सगुण अर्थात् अवतार और निर्गुण अर्थात् परब्रह्म ऐसा अर्थ कर २ इस सम्बन्ध से वाद चलता है परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है "अपर्वगात्" इस श्रुति पर से अवतार का होना बिलकुलही नहीं संभव होता, कविः मनीषी परिभूतो, निर्गुणश्च, ऐसे २ श्रुति वाक्य हैं इस पर से ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों हैं ज्ञान, शक्ति, आनन्द इन गुणों के सहित होने से वह सगुण है परन्तु जड़ के गुण उस में नहीं हैं इन गुणों के

सम्बन्ध से वह निर्गुण है प्रथम जो मैंने श्रुति कही उस के साहचर्य की ओर ध्यान देने से यही निकलता है।

प्रश्न ३–प्रार्थना क्यों करना चाहिये, ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिमान भी है तो उसे हमारे मन की विदित है और उसने हमें इस प्रकार कैसे उत्पन्न किया कि हम पाप करें, फिर इस प्रकार की पाप विषयिणी प्रवृत्ति हम में रखकर भी हमारे पाप का दण्ड देता है तो ईश्वर न्यायी कैसा ?

उत्तर–हमारे माता पिता ईश्वर के बनाये हुए पदार्थ लेकर हमें पालते हैं तो भी वे हम पर बड़े उपकार करते हैं इन उपकारों का स्मरण करना हमारा धर्म है ऐसा हम स्वीकार करते हैं, फिर जब ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की तो उसके असंख्य उपकार को हमें अवश्य स्मरण करना चाहिये, द्वितीय–कृतज्ञता दिखलाने वालों का मन स्वतः प्रसन्न और शान्त होता है, तृतीय–परमेश्वर की शरण जाने से आत्मा निर्मल होता है, चतुर्थ–प्रार्थना से पश्चात्ताप होता है और आगे को पापवासना का बल घटता जाता है, पञ्चम–सत्यता प्रेम हम में दृढ़ होते जाते हैं, षष्ठ–

स्तुति अर्थात् यथार्थ वर्णन, ईश्वर स्तुति करने से अपनी प्रीति बढ़ती है क्योंकि ज्यों २ उसके गुण समझ में आते जाते हैं त्यों २ प्रीति अधिक जमती जाती है, फिर यह भी है कि उपासना के द्वारा आत्मा में सुख का प्रादुर्भाव होता है इस उपाय को छोड़ पाप नाशन करने के लिये अन्य उपाय नहीं है, काशी जाने से हमारे पाप दूर होंगे यह समझ अथवा तीर्थ करने से पाप छूटना किम्वा हमारे पाप का भार अमुक भद्र पुरुष लेकर सूली चढ़गया इत्यादि अन्य लोगों की सारी समझ अपशस्त है अर्थात् भूल पर है उपासना के द्वारा विवेक उत्पन्न होता है, विवेकी होने से क्षणिक वस्तुओं मे शोक और आनन्द ये दोनों नहीं होते, अब ईश्वर ने जीव स्वतन्त्र किया इस लिये उससे पाप भी होता है, यदि उसे परतन्त्र किया जाता तो वह केवल जड़ पदार्थवत् बना रहता, जीव के स्वातन्त्र्य से ब्रह्म की सर्वज्ञता में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध नहीं है, बच्चे को छुट्टा छोड़ा जाय तो वह चोट लगा लेवेगा यह सोच माता बालक को बांध नहीं रखती तो भी बालक देगा

भ्रम फसाद अवश्य करेगा. यह ज्ञान माता को रहता ही है, इस अलौकिक उदाहरण पर से ब्रह्म की सर्वज्ञता से जीव के स्वातन्त्र्य को कुछ भी हरकत नहीं आती, ज्ञान के विषय स्वतन्त्रता उसकी है, उसी तरह आचरण के विषय उससे दिये हुए सामर्थ्य की मर्यादा में स्वतन्त्रता मनुष्य की है, यदि ऐसी स्वतन्त्रता न होती तो जो सुखोपभोग आज होरहा है वह न होता और जीव सृष्टि की उत्पत्ति व्यर्थ हुई होती।

—:※:—

❀ तृतीय व्याख्यान ❀

ओ३म्

ओ३म भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ऋक् संहिता मं० १। अनु० १४। सू० ८९ मं० ८॥

यह ऋचा स्वामी जी ने कही, फिर धर्माऽधर्म इस विषय पर व्याख्यान प्रारम्भ किया, परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म, निषेध या अधर्म, न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म, सत्य यह धर्म असत्य यह अधर्म निःपक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म, व्रतेनदीक्षामाप्नोति (यं०) इस प्रतीक का शुक्ल यजुः संहिता का मंत्र कहा, उस का अर्थ किया, अब सत्यमूलक यदि धर्म है तो सत्य क्या है ? प्रमाणैरर्थ परीक्षणं इस न्याय से जो अर्थ सत्य ठहरे वही सत्य है, आश्रम चार हैं ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास ।

अहिंसा परमो धर्मः ।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।

(मनु० ६ । ९२)

धर्म और अधर्म ये अनेक हैं परन्तु उनमें से विशे

रीति से ग्यारह धर्म और ग्यारह अधर्म हैं, उनका स्वामी जी ने विशेष विवरण किया हुआ है।

इस प्रकार ग्यारह धर्म सनातन उपदिष्ट हैं, प्रथम अहिंसा का लक्षणः—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योगसूत्र साधनपाद ३० सूत्र)

अहिंसा—इस का केवल पश्वादि न मारना ऐसा संकुचित अर्थ करते हैं परन्तु व्यास जी ने ऐसा अर्थ किया है किः—

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः

अहिंसा ज्ञेया।

अर्थात् वैर त्याग करना।

धृति—अर्थात् धैर्य, राज्य गया तो भी धर्म का धैर्य छोड़ना नहीं चाहिये, धैर्य छोड़ने से धर्म का पालन नहीं होता। क्षमा अर्थात् सहनता बड़े ने कोई अपकृत्य छोटे मनुष्य के लिये किया तो उसे छोटे ने सहन कर

लिया, यह क्षमा नहीं है, इसे असामर्थ्य कहते हैं, किन्तु शरीर में सामर्थ्य होकर बुरे का प्रतीकार न करना यही क्षमा है।

दमनाम मनसो वृत्तिनिग्रहः—मन की वृत्तियों का निग्रह करना इसी का नाम दम है वैराग्य ऐसा अर्थ नहीं है, **अस्तेय** अन्याय से धनादि ग्रहण करना, आज्ञा बिना पर पदार्थ उठा लेना स्तेय है और स्तेयत्याग अस्तेय कहाता है। **शौच** दो प्रकार का है, शारीरिक व मानसिक, उत्कृष्ट रीति से स्नानादिक विधिका आचरण करना यह शारीरिक शौच है, किसी भी दुष्टवृत्ति को मनमें आश्रय न देना यह मानसिक शौच है, शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते तथा मानसिक प्रसन्नता भी रहती है।

इन्द्रियनिग्रह--अर्थात सारी इन्द्रियों को न्याय से धाक में रखना, इन्द्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिये, इन्द्रियों का आकर्षण परस्पर सम्बन्ध से होता रहता है, मनु ने कहा है कि—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिंद्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

इस वाक्य का अर्थ- इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहनों के साथ एकान्त में भी सावधान रहना चाहिये।

धी—अर्थात् बुद्धि, सब प्रकार बुद्धि को बल प्राप्त हो वैसे ही आचरण करने चाहिये, शरीर बल बिना बुद्धि बल का क्या लाभ? इस लिये शरीर बल सम्पादन करने के लिये और उसकी रक्षा करने के लिये बहुत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

विद्या—योगसूत्र में अविद्या का लक्षण किया हुआ है

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म ख्यातिरविद्या।

(योगसूत्र साधनपाद २४ सूत्र)

तस्य हेतुरविद्या।

अविद्या अर्थात् विषयासक्ति, ऐश्वर्य भ्रम, अभिमान हैं, बड़े २ पाठ करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं ती पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा, यथार्थ दर्शन ही या है यथाविदित ज्ञान यह विद्या है, प्रभा के विरुद्ध भ्रम विद्या को, भ्रम नहीं होता, "अनात्मनि आत्मबुद्धिः"

"अशुचि पदार्थे शुचिबुद्धिः" यह भ्रम है, यही अविद्या का लक्षण है और इस के विरुद्ध जो लक्षण हैं वे विद्या के हैं, जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं धनाढ्य हूं वा मैं बड़ा राजा हूं उसे अविद्या का दोष है, दूसरा शरीर क्षीण रहना यह अविद्या का कारण होगा, इस से सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय प्रयत्न करने चाहिये, हमारे देश में न्यून अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या सम्पादन करने की आपत्ति होती है, अपवित्र पदार्थ के स्थान में पवित्रता मानना यह अविद्या है, ईश्वर का ध्यान यह पूर्ण विद्या है, यह सारी विद्याओं का मूल है किसी भी देश में इस विद्या का ह्रास (न्यूनता) होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।

सत्य—तीन प्रकार का है, सत्यभाव, सत्यवचन, सत्यक्रिया, सत्यभावना होनी चाहिये, सत्य भाषण करना चाहिये और सत्य आचरण तो करना ही चाहिये, किसी प्रकार का विकल्प मन में न होना चाहिये, असत्य का

त्याग करना चाहिये, विवेक का लक्षण योगसूत्र में लिखा हुआ है, कि—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।

सम्भव कौन सा और असम्भव कौन सा, इस का विचार करना चाहिये, कुम्भकर्ण के विषय में तुलसीदास जी का एक दोहा है, कि—

योजन एक मूछ रही ठाढ़ी ।
योजन चार नासिका बाढ़ी ॥

दक्खिन में देव मामलेदार कर २ कोई साधू हुआ है उसकी यूं बात उड़ाते हैं कि उसने अपने वचन से पुरुष को स्त्री बनाई, ऐसी २ असम्भाव्य बातें हमारे देश में बहुत सी फैल गई हैं इस लिये प्रमाणों के सहाय से अर्थ विवेचन कर २ देखने से विचारांश में निश्चय होता है कि कौन सी बात सत्य और कौनसी झूठ है, यह समझता है ।

अक्रोध—बड़ा भारी जो क्रोध उत्पन्न होता है उस का सर्वथा त्याग करना चाहिये, स्वाभाविक क्रोध कभी

नहीं जा सक्ता, परन्तु उसे रोकना मनुष्य का धर्म है क्रोधाधीन होने से बड़े २ अनर्थ होते हैं इस प्रकार का एकादश लक्षणी सनातन धर्म है, जो मनुष्यमात्र को कर्तव्य है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु० अ० २ श्लोक २०)

व्यवहार धर्म की ओर भी ध्यान देना चाहिये, सारी दुनिया में इसी आर्य्यावर्त से विद्या गई, इस देश के आर्य्य पुरुषों के वैभव का वर्णन जितना ही किया जाय थोड़ा है, समुद्र पर चलने वाले, जहाजों पर कर लेने की आज्ञा भगवान मनु ने अष्टमाध्याय में लिखी है, इस से स्पष्ट है कि समुद्रयानादिक पहिले हमारे लोग करते थे।

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति॥
(म० अ० ८ श्लोक १५७)

गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ पुस्तकालय
ग्रहण कमांक 400
नन्द महिला महा

अधर्म—अर्थात् अन्याय, इसका विचार करना चाहिये, मनुने ऐसा कहा है कि:—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिंतनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवाच शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥

(म. अ० १२ श्लोक ५ । ६ । ७)

मानसिक कर्मों में से तीन मुख्य अधर्म हैं परद्रव्य हरण, चोरी, मनसानिष्टचिंतन अर्थात् लोगों का बुरा चिंतन करना, मन में द्वेष करना, ईर्षा करना, वितथाभिवेश अर्थात् मिथ्या निश्चय करना, वाचिक अधर्म चार हैं, पारुष्य अर्थात् कठोर भाषण, क्योंकि सब ठौर सब समय मनुष्य को उचित है कि वह मृदुभाषण करे, किसी अंधे को "या अंधे" कह कर पुकारना निस्सन्देह सत्य है परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है, अनृत भाषण अर्थात् झूठ बोलना,

पैशुन्य अर्थात् चुग़ली करना, **असम्बद्ध प्रलाप** अर्थात् जान बूझकर बात को उड़ाना, शारीरिक अधर्म तीन हैं, **अदात्तानामुपादानम्** अर्थात् चोरी, **हिंसा** अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म, **परदारोपसेवा** अर्थात् रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना, किसी मनुष्य ने अपने खेत में की ज़मीन में न बोते अपना बीज लेकर दूसरे की ज़मीन में बोया तो उसे हम क्या कहेंगे ? क्या उसे हम मूर्ख न कहेंगे अपने वीर्य का जो मनुष्य अगम्यागमन से ख़र्च करे वह महा मूर्ख है, कोई २ ऐसा कहने लगजाते हैं कि हम नक़द पैसा देकर बाज़ार का माल मोल लेते हैं इस में सो व्यभिचार क्या होगा ? परन्तु वे मूर्ख नहीं सोचते कि पल्ले का रुपया ख़र्च कर अपने अमूल्य वीर्य को ख़र्च कर डालते हैं यह व्यापार किस प्रकार का है ? अर्थात् ऐसा व्यापार करनेवाला तो क्या महामूर्ख नहीं है ? अवश्य मूर्ख है।

धर्म्म के तीन स्कन्ध हैं, यज्ञ, अध्ययन और दान **यज्ञ** अर्थात् होम, यज्ञ करने से वायु शुद्ध होकर देश

बहुत सी दृष्टि होती है, मीमांसा और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में मन्त्रमयी देवता तो मानी है और विग्रहवती देवता कहीं भी नहीं मानी इस व्यवस्था के द्वारा शास्त्रकारों ने बहुत सा झगड़ा मिटा दिया. परन्तुः—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ।

इस पुरुषसूक्त में की ऋचा की व्यवस्था का लगाना ज़रा अच्छा ही कठिन पड़ता है ।

अध्ययन—अर्थात् लड़कों को तथा लड़कियों को सिखाना यह है:—

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ।
(मनु० २ । ६७)

इस में **गुरौ वासः** अर्थात् कुल्लूक भट्ट ने पति के घर में वास करना ऐसा अर्थ कर २ अर्थ का अनर्थ कर दिया, पूर्वकाल में आर्य लोगों में स्त्री लोग उत्कृष्ट रीति से सीखती थीं, आर्य लोगों के इतिहास की ओर देखो-स्त्री लोग आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर २ रहती थीं और

साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरुगृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे यह सब को विदितही है।

गार्गी, सुलभा, मैत्रेयी कात्यायन्यादि बड़ी २ सुशिक्षिता स्त्रियां होकर बड़े २ ऋषि मुनियों की शंकाओं का समाधान करती थीं, फिर नहीं मालूम कुल्लूक भट्ट ने "पतिसेवैवगुरौवासः" ऐसा अर्थ कहां से किया ? अथर्ववेद में कहा है:—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
(अ० वे० ११ । ५ । १८)

ऐसा स्पष्ट वाक्य है, इस वाक्य को एक ओर रखकर कुल्लूक भट्ट के अर्थ को ग्रहण करना ज़रा कठिन होगा, सुशिक्षित स्त्री लोग कुटुम्बी गृहस्थों को सब प्रकार सहाय करने वाली होती हैं, संगतिका बल कितना बढ़कर है इस का विचार करो विद्वान् को अविदुषी स्त्री से संग परे तो उसका परिणाम कैसे लगे ? फिर स्त्रियां ही केवल पढ़े इतनाही नहीं किन्तु सारी जातियों वेदाभ्यास करने का अधिकार रखती हैं, देखो—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय
चारणाय च ॥ (यजु० अ० २६ मं० २)
शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

शूद्रका ब्राह्मण होता है और ब्राह्मण का भी शूद्र होत है, इस मनुवाक्य का भी विचार करना चाहिये, ब्रह्मचर्य करना अर्थात् ब्रह्मचर्य निभाना यह बड़ाही धर्म है, ब्रह्मच र्य के कारण शरीरबल और बुद्धिबल प्राप्त होता है आज क बालके लड़कियों के शीघ्र विवाह करने की बुरी रस्म पड़ग ई, काशीनाथ ने शीघ्रबोध नामक एक ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है उसमें ऐसा कहा है कि—

अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्

लड़की शीघ्र गौरी होती है, रोहिणी होती है, रजस्वल होती है इत्यादि बहुत कुछ बकवाद की है।

इस ग्रन्थ को बने अभी १०० वर्ष भी नहीं हुए हों स्वयंवर के विषय भगवान् मनुजी का आदेश है कि—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥

इसी प्रकार मनुजी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रक्खो परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह में उसे न दो, वाक्य—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेन्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

पुरातन सुश्रुत चरकादि वैद्यक के ग्रन्थों में आयु चार भाग कल्पना किये हैं, १ वृद्धि, २ यौवन, ३ सम्पूर्णता और ४ हानि, इनकी व्यवस्था इन वाक्यों में दी है सो देखो—

तिस्रोऽवस्थाः शरीरस्य बुद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति, आषोडशाद् वृद्धि

आपञ्चविंशतेर्यौवनं, आचत्वारिंशतःसम्पूर्णता ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति ॥

पुरुषों की योग्य अवस्था प्राप्त होने के लिये कम से कम चालीस वर्ष की आयु की आवश्यकता है, निकृष्ट पक्षमें भी लड़के की पच्चीससे न्यून आयु न हो और लड़की की सोलह वर्ष से न्यून आयु तो होना ही न चाहिये ऐसा सुश्रुत का कहना है

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोड़शे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात्कुशलोभिषक् ॥

छान्दोग्यउपनिषद् में प्रातःसवन चौबीस वर्ष तक वर्णन किया हुआ है, यह पुरुषों की कुमार अवस्था है, चवालिस वर्ष तक मध्यसवन कहा है यही यौवनावस्था है और अड़तालीस वर्ष तक सायंसवन वर्णन किया है जो सम्पूर्णता की अवस्था है इस के पश्चात् जो समय आता है वही उत्कृष्ट समय विवाहादि के लिये माना गया है, विवाह होने के पूर्व वेदाध्ययन अवश्य कराना चाहिये ।

इन दिनों ब्रह्मचर्यों ने अपने स्वार्थवश वेदाध्ययन छोड़ दिया है, मानों बिलकुल नष्ट कर दिया है सो प्रारम्भ होना चाहिये, अथर्ववेद में अल्लोपनिषद् करके घुसेड़ दिया है, यह मतलबी लोगों ने नये २ श्लोक बनाकर लोगों को भ्रम में डालने के लिये रचकर डाल रक्खे हैं सो बड़े ही दुःख की बात है, इस लिये ऐसा हो कि स्थान २ पर वेदशालायें हों उनमें वेदाध्ययन कराया जावे, परीक्षायें लिवाई जावें अर्थात् वेदाध्ययन को हर प्रकार से उत्तेजना मिले ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

दान-दान शब्द का आज कल जो अर्थ लेते हैं वह नहीं, पेटार्थू लोग कहते हैं कि—

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः।

इत्यादि विवेचनमूलक दान सदा होता रहता है, इन दिनों लोगों ने "पीत्वा पीत्वा ब्रह्मार्पितः" ऐसे २ वाक्यों को कह २ कर दान का मिथ्या ही अर्थ किया है सो न हो किन्तु दान वह है जो विद्या बुद्धि के लिये द्रव्य खर्च हो, कलाकौशल की उन्नति में धन लगाया जाय।

दीन, अपाहज, रोगी, कुष्ठी, अनाथ आदिकों को सहाय करना सच्चा दान है।

आश्रम चार हैं ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन पूर्व ही हो चुका है गृहस्थाश्रम में परस्पर प्रीति बढ़कर सामाजिक कल्याण बढ़े यही मुख्य धर्म है, इस प्रकार की सामाजिक प्रीति बढ़ने के लिये पाषाणादि मूर्त्तिपूजा का पाखण्ड दूर होना चाहिये।

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भार्या भर्त्रा तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

उपर्युक्त श्लोक में कहे अनुसार गृहस्थों को आनन्द करते निर्वाह करना चाहिये यह उनका मुख्य धर्म है।

वानप्रस्थ--इस आश्रम में विचार करना चाहिये, तप अर्थात् विद्या को सम्पादन करना उचित है।

संन्यासी--संन्यासी को उचित है कि सारे जग में फिरे और सदुपदेश करे यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, यथार्थ उपदेश के विषय में मनु कहते हैं—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलम्पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

पंचशिखा और शंकराचार्य इनका इतिहास देखना चाहिये कि उन्हों ने सदा सत्य और सदुपदेश ही किये, उसी प्रकार संन्यासीमात्र को सदुपदेश करना चाहिये ।

सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

यह कहकर व्याख्यान समाप्त किया ।

चौथा व्याख्यान ।

धर्माधर्मविषयक ।

प्रश्न–क्या वेदों में मन्त्रमयी देवतों का अथवा विग्रहवती देवताओं का प्रतिपादन है ? सावयव देवताओं के विना जड़मति अज्ञानी लोग पूजा किस प्रकार कर सकें और धर्म व्यवहार में उनका निर्वाह कैसे लगे ?

उ०—वेदों के तीन काण्ड हैं—उपासना, कर्म और ज्ञान; परन्तु उपासनाकाण्ड में केवल एक उपासना ही का प्रतिपादन हो यही नहीं, अथवा ज्ञानकाण्ड में ज्ञान ही का प्रतिपादन हो वा कर्मकाण्ड में कर्म ही का प्रतिपादन हो यह नहीं, किन्तु औरों का भी है। जैसे उपासना काण्ड में उपासना तो प्रधान ही है परन्तु उस में ज्ञान और कर्म का निरूपण भी मिलता है, इसी प्रकार सर्वत्र है, मीमांसा का प्रारम्भ 'अथातोधर्मजिज्ञासा' ऐसा है इस में कर्म विचार है इस में अथ और अतः इन दो शब्दों के अर्थ विषय में बड़ी ही मेहनत की है और उस पर से भिन्न २ काण्ड की बिलकुल भिन्न २ व्यवस्था प्रतीत होती है ऐसा कोई कोई कहते हैं परन्तु वैसा कहना अप्रशस्त है—आश्वलायन ने जो व्यवस्था की है वह कुछ कुछ ठीक है उसे देखना चाहिये। इन दिनों कर्म वेदमन्त्रों के अनुकूल नहीं होता क्योंकि जैमिनि ऋषि ने कर्मकाण्ड में मन्त्रमयी देवता माने हैं और कर्म का अधिकार स्नातक और योग्यता को चढ़े हुए पुरुषों को है तो इस पर से यह स्पष्ट होगा कि कर्म विषय में जो यह जड़बुद्धि

वह पुरुषों में योग्यता नहीं है वह होगा, कर्मकाण्ड में मन्त्रमयी देवता हो तो अब मूर्त्त देवताओं को उस में घुसने का स्थान नहीं रहा, उपासनादिकों को योगशास्त्र का आधार है जैसे कर्मकाण्ड को मीमांसा में है, परन्तु योगशास्त्र में मूर्तिपूजा के विषय में कहीं भी वर्णन नहीं है, ज्ञानकाण्ड में मूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती ऐसी सर्वसम्मति है, इस पर से जैमिनि के मतानुकूल व्यास जी के सिद्धान्तानुकूल और पतञ्जलि के सम्मत्यनुकूल तो मूर्तिपूजा ग्रहीत नहीं होती अर्थात् पूर्व मीमांसा शास्त्र, योगशास्त्र, उत्तरमीमांसा अथवा वेदांतशास्त्र इन में तो मूर्तिपूजा को कहीं भी अवकाश नहीं है, अब कोई ऐसा कहे कि स्मृतिग्रन्थों में मूर्तिपूजा है और स्मृति को अनुमान से श्रुतिमूलकत्व है, उपलब्ध श्रुति में मूर्ति की पूजा का उपदेश न हो तो भी लुप्त है और श्रुति में मूर्ति पूजा का विधान है ऐसा मानकर मूर्ति पूजा करना चाहिये तो ऐसा श्रुति स्मृति का सम्बन्ध मानकर अनुपस्थित श्रुति का अवलम्बन कर कर उपस्थित ग्रन्थों के आधार में जो विचार करना है उस में गड़बड़ मचाना यह हमें प्रशस्त नहीं दीखता। इन दिनों चार वेद और प्रत्येक वेद

की बहुत सी शाखायें भी उपलब्ध (प्राप्त) हैं, शाखा भेद फिर कई प्रकार का होता है जो कुछ मूल बीज रूप वेदों में वही उपलब्ध शाखाओं में तो न हो, किन्तु लुप्त शाखाओं में होगा यह कल्पना सयुक्तिक नहीं, आश्वलायन कात्यायनादि श्रौत सूत्रकारों को नष्ट शाखाओं में के मन्त्र लेते नहीं बनते, इस लिये अमुक मन्त्र ही नहीं लिये ऐसे कहीं भी कहते नहीं सुना और शास्त्र व्यवस्था के लिये स्मृत्यवलम्बन करना चाहिये ऐसा भी उनका कहना नहीं था, हमारा भी यही कहना है कि पूर्व मीमांसा योग और उत्तर मीमांसा इन शास्त्रों को कृपाकर लगाओ और विचार कर २ देखो, इसी प्रकार शतपथादि ग्रन्थों में, निरुक्त में, पातञ्जलि महाभाष्य में नष्ट शाखाओं का गौण प्रकार से भी कहीं सूचक लिंग नहीं है, इस से स्मृति को श्रुति मूलकत्व है। इस मत से आधुनिक अशुद्ध व्यवहार को आवश्यकीय उतने ज्ञापकों को निकालना यह बहुत ही अप्रशस्त है। अस्तु, वेदों में तथा शास्त्रों में मूर्ति पूजा का विधान कहीं भी नहीं, यह तो सिद्ध हो चुका, अब रहा यह कि मूढ़ और अज्ञानी लोग सावयव देवताओं

के बिना अपना निर्वाह कैसे करें ? इस प्रश्न पर विचार करें, हमारे विचार से तो मूर्खों को भी मूर्ति पूजा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि मूर्ख अर्थात् प्रथम ही जड़ बुद्धि और फिर उसके पीछे लगाई जाय जड़ पदार्थों की पूजा, तो क्या उसकी बुद्धि और अधिक जड़ न होगी ? क्योंकि जड़ मूर्ति की पूजा से तो जड़ बुद्धि में जड़त्व ही जमेगा इस से उन्नति तो कभी भी न होगी किन्तु अधोगति तो अवश्य होगी, भला अब यह देखें कि पूजा शब्द का अर्थ क्या है ? पूजा शब्द का शब्दार्थ सत्कार करना ऐसा है न कि षोड़शोपचार पूजा, देखोः—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव ।
आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव ॥

इस स्थल पर माता, पिता, आचार्य और अतिथि इन का पूजन अर्थात् सत्कार करना यही है, उसी प्रकार मनु में भी स्त्री पूजनीय है अर्थात् भूषण, वस्त्र, प्रिय वचन इत्यादिकों द्वारा सत्करणीय है, देखो मनु जी क्या कहते हैं—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

जड़ पदार्थों की सत्कारार्थ में पूजा करते नहीं बनती, सचेतन का, सजीव का ही केवल सत्कार करते बनता है, सजीव का अर्थात् भद्र मनुष्यादिकों का सत्कार करने से बहुत से लाभ होते हैं—

मनुष्यों को सत्संग होने से उनकी बुद्धियों की परिपक्वता होकर वैराग्य को वे पहुंचते हैं और उस से मन्द बुद्धि पुरुषों का कल्याण भी होता है, अब दूसरा यह कि मनुष्यों में स्वभाव ही से ऐसी इच्छा होती है कि लोग हमें अच्छा कहैं, हमारी सुकीर्ति हो, आस पास के लोग भला कहैं, हमारे आचरण को ठीक कहैं इत्यादि, तो इस इच्छा पर से उनके मन की सदाचरण की इच्छा दृढ़ होती है पर यह होने कब पावै ? जब की उसे सत् मनुष्यों की संगति हो तब ही हो सकता है अन्यथा कभी सम्भव नहीं, हमें स्पष्ट विदित है कि जड़ मूर्तियों के सन्मुख मन्दिरों में कैसे २ दुराचरण होते हैं वैसे दुराचरण पांच वर्ष के बच्चे के सन्मुख भी करने की मनुष्य की हिम्मत

नहीं होती जैसी कि जड़ मूर्ति के सन्मुख करने में लज्जा तनिक भी नहीं आती, इस पर से स्पष्ट है कि मनुष्य को मनुष्य जितना डरता है उतना जड़ मूर्तियों को नहीं डरता, किन्तु यह तो होता है कि लाख मूर्तियों में भी यदि मनुष्य खड़ा किया जावे तो उसका चित्त भ्रष्ट और चञ्चल होकर वह दुराचरण की प्रवृत्ति आप स्वयं दिखाता है, जड़ पदार्थ के सत्कार से कभी भी मनुष्य के मन की उन्नति नहीं होती परन्तु सद्विचार, महा विचारों में मन लगने से बुद्धि की उन्नति होती है, सत्संगति में दूसरे का सत्कार करने से आत्मा प्रसन्न होकर प्रीति सदृश उत्तम गुण उसमें उत्पन्न होते हैं, यह इनका पूजन अर्थात् सत्कार इस अर्थ से मूर्ति पूजा के विषय में विचार हुआ ।

अब मूर्ति के षोड़शोपचार पूजा के विषय विचार करना चाहिये—जड़ मूर्ति की केवल जड़ पदार्थ इसी नाते से पूजा नहीं होती—किन्तु प्रथम उसमें उसकी प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ती है, मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा यह सिर्फ भावना ही है परन्तु भावना का अर्थ विचारणा यह होता है ।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

जैसी २ भावना वैसी ही उसको सिद्धि मिलती है ऐसा कोई २ कहने लग जाते हैं परन्तु यह उनका मिथ्या प्रलाप है क्योंकि सब मनुष्यों को सदा सुख प्राप्ति की दृढ़ भावना रहती है फिर उनको सर्वदा सुख प्राप्ति क्यों नहीं होती ? उसी तरह पर्वत के बीच सुवर्ण की दृढ़ भावना की जाय तो भी पर्वत सोने का कभी नहीं बन सकता, हमारी भावना के कारण जड़मूर्ति में कुछ भी फेरफार नहीं होता, प्राणप्रतिष्ठा करने के पश्चात् मूर्ति सचेतन नहीं होती और न कभी वह आंख से देखती है यह हम सबों को खूब मालूम ही है, अस्तु परमेश्वर का अखण्ड निश्चय इस सब जगत् भर में चल रहा है उसमें हमारी कृति से कोई परिवर्त्तन नहीं होगा, जो जड़ है वह जड़ ही रहेगा सचेतन वह सचेतन ही समझा जावेगा, अब रहा यह कि प्राण प्रतिष्ठा के कारण जड़मूर्ति को पूजा के अर्थ मानने का क्या आधार है उसे देखो, तो देखते हैं कि न तो चारों वेदों में, अथवा वृह्द श्रौत सूत्रों में और न षटदर्शनों में कहीं भी प्राणप्रतिष्ठा के मन्त्र दिये हैं, तो फिर—

प्राणेभ्योनमः ।

इस प्रकार के प्राणप्रतिष्ठा के मन्त्र कहां से निकले, इस का विचार हम हिन्दुओं को-नहीं नहीं मैं भूला-हम आर्यों को अवश्य करना चाहिये हिन्दु शब्द का उच्चारण मैंने भूल से किया क्योंकि हिन्दू यह नाम हमको मुसलमानों ने दिया है जिसका अर्थ काला, काफिर, चोर इत्यादि सो मैंने मूर्खता से उस शब्द का स्वीकार किया था, हमारा असली नाम तो आर्य अर्थात् श्रेष्ठ है—

विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् । शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेता ते सधमादेषु चाकन ॥

(ऋग्वेद अ० ४ । अ० १ । व. १० । मं० ८)

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः

(अष्टाध्यायी पाणिनीय)

भाइयो ! दस्युसदृश अव्रतचारी लोगों के साथ लड़ने वाले हम व्रतचारी आर्य हैं सो स्मरण रहे, अस्तु-प्रति-

ष्टाम्यूखादि अथवा लिंगार्चनचिंतामणि इत्यादि तंत्र ग्रंथों में के मंत्र लेकर हम जड़मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा करते हैं ऐसा यदि कोई कहे तो हम उन्हें उन तंत्रग्रंथों का कुछ नमूना दिखाते हैं और पूंछते हैं कि आया ये ग्रंथ मानर्नीय हो सक्ते हैं वा नहीं।

पीत्वा पीत्वा पुनःपीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

भला ऐसे २ तान्त्रिक मन्त्रों के बीच वैदिक मन्त्रों का सामर्थ्य कहां से आ सके ? इसी लिये जड़मूर्ति में कभी भी चेष्टा नहीं उत्पन्न होती, इस मन्त्र से स्वाभाविक जड़ पदार्थ में प्राण डालना तो दूर रहा परन्तु स्वाभाविक जीव रहने वाले सावयव मृत शरीर में जिस में प्राण आना चाहिये और मुर्दा ज़िन्दा होजाय, परन्तु वैसा भी नहीं होता तो फिर व्यर्थ ही इस प्रकार के प्राण प्रतिष्ठा के पाखण्ड में क्या रक्खा है, अर्थात् कुछ भी ऐसे पाखण्ड से नहीं निकलता।

प्रश्न—भिन्न २ वर्ण तो आप नहीं मानते फिर वर्णा-

श्रमीय धर्म की व्यवस्था आप कैसे करोगे अर्थात् ब्राह्मण कौन ? वैश्य कौन ? और क्षत्रिय कौन ? तथा शूद्र कौन होसक्ता है ।

उत्तर—आश्रम चार हैं ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास, सुसंगति अध्ययनादि का अधिकार मनुष्यमात्र को है फिर जिस २ प्रकार जिस २ पर संस्कार होगा उसी २ प्रकार उसकी योग्यता मनुष्यमात्र में बढ़ेगी, हमारे देश में कोई बड़ी धर्मसभा नहीं जिस के कारण आश्रम व्यवस्था और वर्णव्यवस्था कुछ की कुछ ही होगई है, भला आदमी दुःख उठाता है, चाहिये उतने मजदूर हर ठौर नहीं मिल सक्ते क्योंकि देश भर में टोलियां की टोलियां साधुओं की फिरती दिखाई देती हैं, आधुनिक सम्प्रदायों के अनुकूल जो साधु बने हैं बतलाओ कि उन्हें किस आश्रम में मानें ? क्योंकि शास्त्र का आधार छोड़ लोग मनमाने रहने लगे हैं यह एक प्रकार की जबरदस्ती है । शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण यह व्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव से की जासक्ती है और इसी प्रकार प्राचीन आर्य लोगों की व्यवस्था थी, वे जन्म

से ब्राह्मणादि वर्ण नहीं मानते थे, जानश्रुति, जाबाल ये नीच कुल के थे, जाबाल ऋषि की कथा छान्दोग्योपनिषद में जो कही हुई है कि उसकी माता व्यभिचारिणी थी परन्तु गुरु के पास जाकर जाबाल सत्य बोला, इतने कथन से गुरु प्रसन्न होकर उससे कहने लगा कि 'जाबाल' तुम सत्यभाषण के कारण ब्राह्मण हो !' ऐसा कह कर उसे ब्राह्मणत्व दिया, अब पुरुष सूक्त में भी एक श्रुति है उसका भी अर्थ करना चाहिये।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬशूद्रो अजायत॥
(यजुः०)

पुरुषसूक्त के बीच में सहस्रशीर्षा यह ँपद बहुव्रीहि है, तत्पुरुष नहीं है, जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस का अर्थ लक्षणा से करना पड़ता है।

इसी प्रकार पद्धति रख कर ऊपर के वाक्य का अर्थ करना चाहिये।

'पूर्णत्वात्पुरिशयनाद्वा पुरुषः ॥

(निरुक्त का प्रमाण है)

उस पुरुष का मुख अर्थात् मुख्य स्थान अर्थात् विद्वान ज्ञानवान् जो हैं वे ब्राह्मण हैं शतपथ में लिखा है कि "बाहु" अर्थात् वीर्य ऐसा अर्थ दिया है इस से स्पष्ट है कि वीर्यवानों को क्षत्रिय जानना चाहिये यह व्यवस्था होती है, व्यवहारिक विद्या में जो चतुर हैं वे वैश्य हैं, अब "पद्भ्यां शूद्रो अजायत" इस स्थल पर पद इस का अर्थ नीच मानकर मूर्खत्वादि गुणों से शूद्र होते हैं ऐसा कहना किस प्रकार चल सकेगा तो "यानि तीर्थानि सागरे तानि ब्राह्मणस्य दक्षिणे पदे" इस स्थल पर पद की कितनी भारी योग्यता है यह तुम्हें विदित ही है इस विचार पर से शूद्र अर्थात मूर्ख ऐसा ही अर्थ होता है और तबही मनुजी के वाक्य का अर्थ सम्यक् प्रकार लग जाता है–

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्यावैश्यातथैव च ॥

सब वर्णों के अध्ययन का जो समय है वह ब्रह्मचर्य है और संसार को एक ओर रखकर अध्ययन करने में, उपदेश करने में, लोककल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे वह संन्यास है। गृहस्थियों को समय इन सब कामों के करने को नहीं मिलता और संन्यासियों को बहुत अवकाश मिलता है, बस यही मुख्य भेद है, अब यदि कहा जाय कि जन्म ही से ब्राह्मण होता है तो जब कोई ब्राह्मण अपने सदाचरण को छोड़ यवनादिकों के से आचरण करने लग जाता है तो उसका ब्राह्मणत्व क्यों नष्ट होता है? इससे सिद्ध हुआ कि केवल जन्मसिद्ध ही ब्राह्मणत्व नहीं किन्तु आचारसिद्ध है। यह तुम्हारे ही कामों से सिद्ध होता है, जिस समय इस आर्यावर्त्त में अखण्ड राज्य, अखण्ड ऐश्वर्य था उस समय वर्णाश्रम की ऐसी ही व्यवस्था थी, अब यदि कोई कहेगा कि गृहस्थाश्रम का अनुभव लिये बिना ही संन्यास न लेना चाहिये तो यह कहना अप्रशस्त है, क्योंकि यदि रोग हो तो औषध देना बुद्धिमानी है उसी प्रकार जिस पुरुष को विषयासक्ति की इच्छा नहीं, भोगेच्छा भी निकल चुकी है तो

उसे नया संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु वह तो स्वयं संन्यासी बना बनाया हुआ है। गार्गी ने कभी भी संसार सुखका अनुभव नहीं लिया वह सदा ब्रह्मचारिणी थी। संन्यासियों से बड़े २ लाभ होते हैं संन्यासियों को शरीर सम्बन्ध तो केवल होता है, शेष व्यवसाय उन्हें नहीं होते, उपदेश करना वा अधर्म की निवृत्ति करना यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, अब यदि कोई पूछे कि पुत्रोत्पत्ति विना जन्म कैसे सफल होगा? तो उन्हें यह उत्तर है कि पुत्र दो प्रकार के होते हैं, विद्या और योनि, इन दोही सम्बन्धों से पुत्र प्राप्ति होती है।

"ग यान् ब्रह्मदः पिता" मूढ़ लोग जनपद में दुराचार कर २ किसी आपत्ति में पड़ेंगे सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है, परन्तु इन दिनों संन्यासियों पर बड़े २ जुल्म हो रहे हैं अर्थात् संन्यासियों को वन में रहना चाहिये एक ही बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहे इत्यादि २ प्रतिबन्ध माने जावें तो भाई बताओ कि वह फिर

किस प्रकार और किसे उपदेश करे ? क्या वह एक गांव से दूसरे गांव को दौड़ता फिरे ? सन्यासियों को, आग को न छूना चाहिये ऐसा भी कहते हैं परन्तु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ सकेंगे ? अर्थात् वह तो उन में बनाही रहेगा, आधुनिक विश्वेश्वरपद्धति नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला हुआ है फिर आधुनिक साधुओं को तन, मन, धन का समर्पण कैसे किया जाय ? भाई मन का समर्पण कैसे होगा ? और तन का समर्पण करने में क्या मलमूत्रादिकों का भी समर्पण होगा ? आधुनिक साधुओं ने कुछ विलक्षण ही व्यवस्था बनाई है, उन्हें वेदशास्त्रों से क्या काम ? विचारे सन्यासियों को अलबत्ता कष्ट होते हैं, मुझे कुछ धन चाहिये इस लिये ऐसा कहता हूँ यह बात नहीं किन्तु मेरा साक्षी परमेश्वर है, तुम उलटा मत समझना ।

प्रश्न—मूर्त्त पदार्थों के विना ध्यान कैसे करते बनेगा ?

उ०—शब्द का आकार नहीं तौ भी शब्द ध्यान में आता है वा नहीं ? आकाश का आकार नहीं तौ भी आ-

काश का ज्ञान करने में आता है वा नहीं ? जीव का आकार नहीं तौ भी जीव का ध्यान होता है वा नहीं ? ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये नष्ट होते ही जीव निकल जाता है यह किसान भी समझता है, ज्ञान यह ऐसाही पदार्थ है, योगशास्त्र में ध्यान का लक्षण किया हुआ है—

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ १ ॥
ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ २५ ॥

[सांख्यशास्त्र]

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥

[योगशास्त्र]

साकार का ध्यान कैसे करोगे ? साकार के गुणों का ज्ञानाकार होने तक ध्यान नहीं बनता अर्थात् सम्भव ही नहीं होता कि ज्ञान के पहिले ध्यान होजाय, देखो एक सूक्ष्म परमाणु का भी अधम उत्तम मध्यम ऐसे अनेक विभाग ज्ञान-बल से कल्पना में आते हैं, अब कोई ऐसा कहे कि मुट्ठी में क्या पदार्थ है तो विदित होने तक ढँकी

हुई मुट्ठी की ओर देखने ही से केवल उस पदार्थ का ध्यान कैसे करें ? तो इस से मेरा यही कहना है कि प्रत्यक्ष के सिवाय उस पदार्थ को जानने के लिये और भी दृढ़तर सबल उपाय हैं उन्हें देखो, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये आठ उपाय हैं, अनुमान ज्ञान के सम्मुख प्रत्यक्ष की क्या प्रतिष्ठा है अब यह विचारणीय है, अस्तु ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

—:*:—

पाचवां व्याख्यान ।

वेदविषयक ।

—:*:—

ओ३मद्दतेदꣳहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । (य० अ० ३६ । मं० १८)

आज के व्याख्यान का विषय 'वेद' यह है, तीन

प्रकार से इस विषय का विचार करना चाहिये, वेद की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? वेद का कर्त्ता कौन है ? और वेदों का प्रयोजन क्या है ? परमेश्वर वेदों का कर्त्ता है। वेद अर्थात् ज्ञान, वेद अर्थात् विद्या, ज्ञान या विद्या ये सम्पूर्ण सृष्ट पदार्थों के बीच उत्तम हैं, ज्ञान सुख का कारण है, ज्ञान के विना सुखकारक पदार्थ भी दुःखकारक होता है क्योंकि ज्ञान के विना पदार्थ की योग्य योजना करते नहीं बनती, अनन्त ज्ञान ईश्वर का है इसी लिये "अनन्तावै वेदाः" ऐसा वचन है, अनन्त यह उसकी संज्ञा है, अनन्तज्ञानसम्पन्न परमेश्वर मनुष्य की योग्यता बढ़ाने के लिये और उसे ऊँचे दरजे को पहुँचाने के लिये सदा प्रवृत्त है और इसी हेतु को सफल करने के लिये विद्या का प्रकाश करता है सो वही प्रकाश वेद है, मनुष्य इस अनन्त ज्ञान के लिये अर्थात् वेद ज्ञान के अर्थ योग्य अधिकारी है, इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य से नहीं है, अब यदि ईश्वर साकार नहीं तो उसने वेद का प्रकाश कैसे किया ऐसा प्रश्न उद्भव होता है, तालु, जिह्वा, ओष्ठ आदि जिस अधिकरण में नहीं हैं तो वहां से शब्दोच्चार कैसे

बनेगा ? इसका उत्तर देना सरल है, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो फिर सहजही में यह सोच सक्ते हैं कि उसे मुखादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं संभव होती, शब्दोच्चार को संयोगादि कारण अल्पशक्तिवालों को लगते हैं, किञ्च—

अपाणिपादो जवनो गृहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥
(मुण्डकोपनिषद्)

आप सब यह क़बूल करते हो कि हाथ के विना ईश्वर ने सब सृष्टि की रचना की फिर भला मुँह विना वेद की रचना क्यों न हो सकेगी ? कोई यदि ऐसी शंका करे कि वेदरूपी पुस्तकों की रचना तो शक्य काम है इस लिये ईश्वर के साक्षात् कृति की कल्पना न करे, परन्तु इस स्थल पर ज़रा विचार करना चाहिये, विद्या और जड़सृष्टि रचना में महत् अन्तर है, जड़सृष्टि रचना ही केवल परमेश्वर ने करदी तो इस से उसका बड़ा सा

माहात्म्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विद्या के सम्मुख जड़ सृष्टि रचना कुछ भी नहीं है, इस लिये विद्या का कारण भी ईश्वरही है ऐसा मानना चाहिये, अन्य क्षुद्र पदार्थ निर्माण कर २ विद्यारूपी वेद ईश्वर उत्पन्न न करे यह कैसे हो सकेगा ? अब वेद विद्या ईश्वर से उत्पन्न हुई तो इसका तात्पर्य क्या है ? ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है, तो उसका उत्तर यह है कि आदि विद्या अर्थात् सब विद्याओं का मूल तत्वमात्र ईश्वर द्वारा प्रकाशित हुई उसका विशेष प्रभाव मनुष्यों के हाथों से अभ्यास द्वारा होता है, अब यह आदि विद्या अर्थात् वेद ईश्वर ने प्रकाशित किये हैं उसके प्रमाण—

प्रथम प्रमाण—यह कि वेद में पक्षपात नहीं, ईश्वर सब दुनिया पर उपकार करने वाला है इस लिये तत्प्रणीत जो वेद उस में पक्षपात का रहना कैसे सम्भव होगा ? इसी तरह ईश्वर न्यायकारी है इस लिये उस में पक्षपात की सम्भावना नहीं हो सक्ती, जिस में पक्षपात हो वह विद्या ईश्वर प्रणीत नहीं है, इसका उदाहरण देखो कि वेद की भाषा क्या ? संस्कृत होना ? तो

बतलाओ कि संस्कृत भाषा वेदों की होने में क्या पक्षपात नहीं है ? ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना ठीक नहीं है संस्कृत भाषा सारी भाषाओं का मूल है, अंग्रेजी सदृश भाषाएँ उससे परंपरा से उत्पन्न हुई हैं, एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है 'वर्म' इस संस्कृत शब्द में के 'यम्' को सम्प्रसारण होकर 'वुई' यह शब्द उत्पन्न हुआ, उसी तरह 'पितर' से 'पेतर' और 'फादर' 'यूयम्' से 'यू' और 'आदिम' से 'आदम' इत्यादि ऐसे २ अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार से भी होते हैं इस के बारे में बुद्धिमानों को कहने की कुछ अधिक आवश्यकता नहीं है, ईश्वर में जैसा अनन्त आनन्द है उसी तरह संस्कृत भाषा में भी अनन्तानन्द है, कहो कि इस भाषा के सदृश मृदु, मधुर और व्यापक सर्व भाषाओं की माता अन्य कौन सी भाषा है ?, अर्थात् कोई भी दूसरी नहीं, अब यदि कोई कहे कि यह भाषा एकही देश की क्यों होना चाहिये ? तो देखो कि संस्कृत भाषा एक ही देश की नहीं है, सर्व भाषाओं का मूल संस्कृत में है इस लिये सर्वज्ञान का मूल जो वेद हैं वे भी संस्कृत ही में हैं,

जिस २ देश में संस्कृत भाषा घुसी है उस २ देश में के विद्वान् लोगों के मनका आकर्षण करती जाती है और यह दूसरी भाषाओं के मातृस्थान में है, ऐसी योग्यता प्राप्त करती जाती है, फिर देखो कि वेद ही में की कुछ २ मुख्य २ बातों का प्रचार जगत् में के सारे देशों में चल रहा है, यहूदी लोग सदा वेदी रचकर यज्ञ करते रहते थे, यह ज्ञान उन्हें कहां से प्राप्त हुआ था ? उन्हें होता, उद्गाता, ब्रह्मा इन की व्यवस्था के साथ यज्ञ करना विदित नहीं, परन्तु इस में कुछ अधिक भेद नहीं, हम आर्यों की रीतियों की उन्हें भूल पड़ी है, इसी तरह पार्सी लोग भी अग्यारी में अग्निपूजा करते हैं, क्या यह आचार वेदमूलक नहीं है ? वेद में पक्षपात नहीं है यह स्पष्ट है, यहूदी लोग अन्य लोगों का द्वेष करना सीखे थे, मुसलमान लोग दूसरों को 'काफिर' कहते हैं, और उनकी धर्म पुस्तकों में ऐसा करने की प्रेरणा की गई है, परन्तु इस प्रकार के अभिमान के लिये वेदों में उत्तेजन नहीं है, इस लिये वेद ईश्वर प्रणीत हैं ऐसा होता है।

द्वितीय प्रमाण—वेद यह सुलभ ग्रन्थ है, अर्वाचीन

पंडित अवच्छेदक अवच्छिन्न पदों को घुसेड़ कर बड़े लम्बे चौड़े परिष्कार करते हैं, परन्तु उन परिष्कारों में केवल शब्दजाल मात्र रहता है विशेष अर्थ गांभीर्य्य नहीं होता, इस प्रकार वेद ग्रंथ नहीं हैं, अब कोई कहे कि दुर्बोध के कारण परिष्कार में काठिन्य पाण्डित्य सूचक है, तो आप जानते हैं जब कि कौवे आपस में लड़ते हैं तब उनकी भाषा का अर्थ किसी को भी नहीं समझ पड़ता तो क्या इनके दुर्बोध के कारण काक भाषा में पाण्डित्य की सम्भावना होगी ? कभी नहीं, अस्तु, वाक्सुलभता है और अर्थ गाम्भीर्य्य यही सामर्थ्य का प्रमाण है, ज्ञान प्राप्ति क्लेश बिना होना यह ईश्वर कृति दर्शक है, योंही "शाक्यता अवच्छेदक शाक्यता अवच्छिन्न" कहने की जगह सुलभ शब्दों से जो भगवान् वात्स्यायनजी ने प्रतिपादन किया है, उसे देखो—

प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानी-तिशब्दप्राप्तिः ।

इसी सुलभता के कारण वात्स्यायन महा पण्डित क्या आधुनिक शास्त्रियों की अपेक्षा पागल ठहराया जा

सक्ता है ? नहीं नहीं, फिर वात्स्यायन जी की भाषा की अपेक्षा तो वेदों की भाषा तो लाख दरजा सरल है।

तृतीयप्रमाण--वेदों से अनेक विद्या और शास्त्र सिद्ध होते हैं, जैसे—

नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।
तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश
प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः॥
तेभ्योनमोअस्तुतेनोऽवन्तुतेनोमृडयन्तुते।
यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टितमेषां जम्भे दध्मः॥
(य० सं० अ० १६। मं० ६४)

मनुष्यों के किये हुये पुस्तकों में एकही विषय का प्रतिपादन रहता है, जैमिनिजी के सारे मत का प्रवाह एक धर्म और धर्मी इस विषय में विचार करते २ पूर्ण हुआ, भगवान् कणाद के मत का ओघ षट पदार्थों के विवेचन के विचार ही में समाप्त हुआ, इसी तरह वैद्यक ग्रन्थ, व्याकरण भाष्य और योगशास्त्र की व्यवस्था लगाने में

भगवान् पाञ्जलि जी की सारी आयु बीती, परन्तु वेद ये अनन्त विद्या के अधिकरण हैं इस लिये वेद मनुष्य कृत नहीं हैं किन्तु ईश्वर प्रणीत ही हैं, अब सारी विद्याओं के अधिकरण वेद हैं अर्थात् वेद में सारी विद्याओं के मूल तत्वों का दिग्दर्शन मात्र है, उदाहरणार्थ देखें—

वाराह्योपानह्योपनह्यामि०
सहस्रारित्रां शतारित्रां नावमित्यादि०
एका च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे० ॥ य० सं०

प्रथम उदाहरण में रचना विशेष का निरूपण किया हुआ है, दूसरे में नौका शास्त्र का निरूपण किया है और तीसरे में गणित शास्त्र का निरूपण बतलाया है।

अब यदि कोई पूछे कि ईश्वर ने सब विद्याओं के मूल तत्वही क्यों प्रकाशित किये, और सायन्त विद्या का और कला का क्यों विवरण नहीं किया ? तो उससे मेरा यह कहना है कि जैसे ईश्वर ने मनुष्यमात्र के बुद्धिव्यापार को उसी तरह बुद्ध्युन्नति को भी अवकाश रक्खा।

चतुर्थ--कोई २ ऐसी शंका भी करें कि अनेक पुरुष

घटित वेद हैं तो इस का यह उत्तर कि यदि अनेक पुरुष घटित वेद होते तो वेदों में एक वाक्यतादि गुण हैं उनकी व्यवस्था कैसी लगाओगे ? अब पूर्वकाल में भिन्न भिन्न विद्यायें भरत-खण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं, जैसे विमान विद्या, अस्त्र विद्या, इत्यादि विद्याओं के पुस्तक नष्ट होने से वे विद्यायें भी नष्ट होगईं, मुसलमानों ने लकड़ी को जलाने की जगह पुस्तकों को जलाया, जैनियों ने भी ऐसाही अनर्थ किया, सन् १८५७ के साल में सुना जाता है कि जब दंगा फसाद हुआ था उस समय किसी एक यूरोपियन ने अमृतराव पेशवा के भारी पुस्तकालय में आग लगादी थी ऐसी दन्तकथा है, इस पर विचार करो कि कितनी विद्या नष्ट होती आई है, उपरिचर नामक राजा था वह सदा भूमि को स्पर्श न करता हवाई में फिरा करता था, पहिले जो लोग लड़ाइयां करते थे उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी, मैंने भी एक विमान-रचना का पुस्तक देखा है, भाई उस समय दरिद्रियों के घर में भी विमान थे, भला सोचो कि उस व्यवस्था के सन्मुख रेलगाड़ी की प्रतिष्ठा क्या होसक्ती है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

पञ्चम—वेद सनातन सत्य हैं, इस से उनका सामर्थ्य भी बहुत बड़ा है, देखो कि शार्मण्य (जर्मन्) देशों में के लोग वेदों का अवलोकन कर २ उनकी कीर्ति और गुणानुवाद गा रहे हैं, इसी तरह सब देशों के विद्वानों के मन का आकर्षण वेद के सत्य के सामर्थ्य से होरहा है, अब सारांश यह है कि सत्यता, एकवाक्यता, सुगमरचना, भाषालावण्य, निष्पक्षपात, सर्व विद्यामूलकत्व; ये गुण वेदों ही में केवल सम्भावित होते हैं, इसी से वेद ईश्वर प्रणीत हैं, इन दिनों हमारे अंग्रेज़ी पढ़े हुवे लोग अंग्रेज़ी ग्रन्थों की लटपट देख कर वही सच हैं ऐसा मानते हैं सो यह ठीक नहीं है, हमारे बड़े भाई शास्त्री लोग तो परम्परा न छोड़ने के विषय पूरे हठी होगये हैं यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि रेल में प्रवास करते समय उनकी परम्परा का हठ किधर जा घुसता है ? क्या बाप अन्धा हो तो पुत्रको भी अपनी आंखें फोड़ लेनी चाहिये, मतलब—इतनी परम्परा को पकड़ रखने से धर्म प्रबन्ध में बड़ी ही गड़बड़ मच गई है, इस गड़बड़ को विचारने से कलेजा धड़कने लग जाता है, देखो चारों ओर जाति विभाग होकर हम

निर्बल होगये हैं, पहिले आर्यलोगों में शतघ्नी अर्थात् तोपें भी थीं और भुशुंडी अर्थात् बन्दूकें भी थीं, यह सब हमारा बल किधर चल दिया ? अग्नि अस्त्रादिकों का लोप कैसे हुआ ? आज कल के पण्डित लोग ऐसा कहते हैं कि पहिले केवल मन्त्रोच्चार के सामर्थ्य से आग्नेयास्त्रादि निर्माण होते थे परन्तु ऐसा नहीं, मन्त्रों के कारण आग उत्पन्न होती थी यदि ऐसा मानें तो मंत्र बोलनेवाला स्वयं कैसे नहीं जलता था ? तो भाई ऐसा नहीं, मंत्र अर्थात् विशेष अक्षर आनुपूर्विक अर्थात् शब्दों में और अर्थों में संकेत मात्र जो सम्बन्ध है वह और सामर्थ्य नहीं, जैसे अग्नि शब्द में दाहकत्व नहीं है तद्वत् मंत्र जपने से कोरा समय खोना है, व्रतबंध (जनेऊ) के समय लड़के का अल्प सामर्थ्य रहने से एक ही मन्त्र उसे बार २ रटना पड़ता है इस से यह मन्त्र का सच्चा विनियोग नहीं है, मन्त्र अर्थात् विचार, राजमन्त्री कहने से विचार, करने वाला यही सत्य अर्थ होगा, यदि यह अर्थ न मानो तो राजमन्त्री वा अमात्य का—राजा को माला लेकर जप करने वाला ऐसा अर्थ करना पड़ेगा तो मन्त्री शब्द का अर्थ जप करने वाला नहीं, किन्तु विचार करने वाला

हो होता है, तो वेद मंत्र का सच्चा विनियोग करना अर्थात् बुद्धिवैशद्य, बुद्ध्युन्नति, बुद्धिप्रकाश, बुद्धि-सामर्थ्य को बढ़ाना यह है, इस प्रकार का सामर्थ्य पहिले आर्यों में था वे एक ही मंत्र को लेकर जपने नहीं बैठते थे परन्तु अनेक मंत्रों की मीमांसा करते थे इसी लिये वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्रादि उन्हे विदित थे. अर्थात् पदार्थों के गुणों को जान उनकी विशेष योजना वे करते थे, विशल्यौषधिनामक उन्हें एक औषधि विदित थी जिस से कैसा ही ज़ख्म क्यों न हो इस औषधि से झट भर आता था; पहिले बंगाल में आर्य लोगों की वैद्यकविद्या की लोग हँसी उड़ाते थे परन्तु डाकटर महेन्द्रनाथ सर्कार सदृश विद्वान् पण्डित ने चरक सुश्रुत सदृश ग्रन्थों का उज्जीवन किया जिस से अंग्रेजी सीखे हुये लोगों का भ्रम दूर हुआ महेन्द्रनाथ ने प्राचीन आर्यग्रन्थों के उज्जीवन करने के लिये बहुत सा धन इकट्ठा करने का प्रयत्न चलाया है सो यह उनका भूषण है, पदार्थ ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

सृष्टपदार्थों के विवेचन करने के लिये, उसी तरह ईश्वर के ज्ञानप्राप्त्यर्थ बुद्धिसामर्थ्य को सम्पादन करना यह वेदाध्ययन का प्रयोजन है, वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई और व्यास जी ने संग्रह अर्थात् संहिता बनाई ऐसा आज कल के पौराणिक पंडित कहते हैं, परन्तु भाई इस में उनकी भूल है क्योंकि मनुने लिखा है कि ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया, ब्रह्माजी का चतुर्मुख ऐसा नाम है इस से यह नहीं समझना कि सचमुच उन के चारही मुँह होंगे, यदि सत्य में ऐसे चार मुख होते तो बेचारे ब्रह्माजी को बड़ाही दुःख हुआ होता और फिर बेचारा सुख से कैसे सोता, तो ऐसा नहीं है, किन्तु 'चत्वारो वेदाः मुखे यस्य इति चतुर्मुखः' ऐसा समास करना चाहिये, प्रथमारम्भ में ईश्वरज्ञान से इन चार ऋषियों के ज्ञान में वेद प्रकाशित हुये और उन से ब्रह्माजी सीखे और पश्चात् उन्हो ने सारी दुनिया भर में फैलाये और उन से मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ

इस लिये उनका वेद ऐसा नाम है और पहिले ऋषिलोग एक दूसरे से सुनते आये इस लिये श्रुति ऐसा वेदों का नाम है।

अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों को वेद प्रथम प्राप्त हुये, इस पर कोई कहेगा कि ये आदि में चारही ऋषि क्यों थे, एक या अधिक क्यों न थे तो ये शंकायें पांच या तीन होते तो भी बनी रहतीं, यह अशोकवनिका न्याय होगा, अब कोई कहेगा कि वेद आधुनिक हैं और नित्य नहीं हैं ? क्योंकि ब्रह्मदेव के मन में ज्ञानलहर उत्पन्न हुई और उसी समय से वेद की परम्परा कहते बनती है फिर नित्य कैसे ? सो भाई इस प्रकार नहीं है, देखो ईश्वर का अपूर्व ज्ञान है और ज्ञान रचना नित्य है, सृष्टि का तथा वेदों का आविर्भाव तिरोभावही केवल है, क्योंकि—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥

[ऋ० सं० अ० ८ । अ० ८ । व० ४८]

इत्यादि वचन ईश्वरीय नित्य ज्ञान का प्रमाण है ब्रह्माजी के पीछे विराट उत्पन्न हुआ फिर वशिष्ठ, नारद,

दक्षप्रजापति, स्वायंभुव मनु आदि हुये, इन सब ऋषियों के मन में ईश्वर ने प्रकाश किया।

अब यह व्याख्यान पूर्ण करने के पूर्व वेद विषय में साधारण विचार करना चाहिये, कोई २ कहते हैं कि चांद सूरज आदि भूतों की पूजा वेदों में उपदिष्ट है परन्तु यह कहना बिलकुल असम्भव है।

शुक्लयजुर्वेद।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः।
तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
तथा–इन्द्रं मित्रंवरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः।
ससुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति॥
[ऋ० सं०]

अग्नि, इंद्र, वायु, ये सब परमेश्वर ही के नाम हैं इस लिये अनेक देवताओं का वाद बिलकुल ही नहीं रहता।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥

मरीचि का पुत्र कश्यप है, दक्ष की साठ कन्याओं में से तेरह कन्याओं के साथ कश्यप का विवाह हुआ, इस प्रकार का वर्णन किया हुआ है, इस कथा के लिये वेदों में कहीं भी आधार नहीं है, कश्यप अर्थात् आद्यन्त के विपर्यास से 'कः पश्यः' परमात्मा का नाम तो होसक्ता है।

कः पश्यः सर्वदृक् परमात्मा ग्रहीतः।

इसी प्रकार हर किसी ने "ब्रह्मोवाच" लगाकर कुछ कथा बना पुराणों का पाखण्ड रचा है, इस प्रकार का दुष्ट उद्योग आधुनिक सम्प्रदायी लोगों ने तो बहुतही किया है।

ब्रह्मोवाच। टकाधर्मष्टकाकर्म टकाहिपरमंपदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते॥

इस सम्प्रदाय का बाज़ार आज कल खूब गरम है, इस के कारण जो दुकानदारी प्रारम्भ हुई है उसे सम्प्रदायी लोग क्योंकर छोड़ेंगे? यजमान की चाहे तीन क्या दश जन्म तक की भी हानि हो तो उन्हें क्या मतलब? इस लिये जब सब स्त्री पुरुष सर्वत्र वेदों को अवलोकन

करेंगे तब इन सम्प्रदायियों की लटपट बन्द होगी, तबही कंठी द्वारा बैकुण्ठ मिलने का सुगम मार्ग बन्द होगा। भाई सोचो जो एकही कंठी से बैकुण्ठ मिल जाय तो बिसाती को कुल कण्ठियों की पेटियां गले में लटकाने से संसार में क्यों सुख नहीं होता? चन्दन तिलक छापों से यदि स्वर्ग मिल जाय तो सारे मुँह पर चन्दन लीपने से क्यों न सुख मिले? इस लिये भाई सोचो! चन्दन, तिलक, कण्ठी ये सब पाखण्ड सम्प्रदायी लोगों का द्रव्य-हरण करने के लिये है, ये सच्चे तीर्थ नहीं हैं, सच्चे तीर्थ कौन से हैं सो इस के विषय वचन है—

अहिंसन् सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्यःसतीर्थ्यः।
सब्रह्मचारी विद्याव्रतस्नातः॥

(छान्दोग्य उपनिषद्)

ब्रह्मचारी पुरुष विद्यास्नात, व्रतस्नात होते थे इस से वेदविद्याही मुख्य तीर्थ है।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—:○:※:○:—

छठा व्याख्यान ।

जन्मविषयक ।

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरंगैः स्तुष्टुवाꣳस स्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ।

(ऋ० सं० मं १ । अनु० १४ । सू० ८९ । मं०८)

यह ऋचा स्वामी जी ने प्रथम कही ।

आज के व्याख्यान का विषय जन्म, यह है, अब जन्म का अर्थ क्या है इस का लक्षण प्रथम कहना चाहिये, शरीर के व्यापार और क्रिया करने योग्य परमाणुओं का जब संघात होता है तब जन्म होता है, अर्थात् सब साधनों से युक्त होकर क्रिया योग्य जब शरीर होता है तब जन्म होता है, सारांश यह है कि इन्द्रिय और (प्राण) अन्तः करण ये शरीर के अवयव जब उपयुक्त होते हैं तब जन्म होते हैं, जन्म अर्थात् शरीर और जीवात्मा का संयोग, तो

इस से स्पष्ट है कि शरीर और जीवात्मा का वियोग भी मरण कहलाता है, अब इस जन्मान्तर के विषय में अनेक मत हैं, कोई २ कहते हैं कि मनुष्य का एक ही जन्म है अर्थात् मरने के पश्चात् फिर पुनर्जन्म नहीं होगा और दूसरे लोग कहते हैं कि जन्म अनेक हैं अर्थात् मनुष्य को मरने पर फिर दूसरे जन्म हैं।

हमारा सिद्धान्त--मनुष्य का पुनर्जन्म है अर्थात् जन्म अनेक हैं ऐसा है—

एक जन्मवादियों के और अनेक जन्मवादियों के कहने में बहुत सी युक्ति प्रयुक्तियों का आधार है, अब उन युक्ति प्रयुक्तियों का विचार करें, 'गतानुगतिको लोकः' इस न्याय से परम्परागत ज्ञान का स्वीकार करना यह विद्वानों को उचित नहीं, तर्क वितर्क कर २ निर्णय करना यह विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है—

एक जन्मवादी ऐसा पूर्व पक्ष करते हैं कि इसमें जन्म के पूर्व यदि कोई जन्म होता तो उस का हाल कुछ तो भी स्मरण रहना चाहिये था और जब कि पूर्व जन्म का

कोई स्मरण ही नहीं है तो इस से यही कहना ठीक है कि पूर्व जन्म न था।

इस पूर्वपक्ष का समाधान हम यों कहते हैं कि जीव का ज्ञान दो प्रकार का है, एक स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक है, स्वाभाविक ज्ञान नित्य रहता है, और नैमित्तिक ज्ञान को घटती, बढ़ती, न्यूनाधिक और हानि आदि का प्रसंग आता रहता है, इस का दृष्टन्त--जैसे अग्नि में दाह करना यह स्वाभाविक धर्म है अर्थात् यह धर्म तो अग्नि के परमाणुओं में भी रहता ही है, यह उस का निज धर्म उसे कभी भी नहीं छोड़ता, इस लिये अग्नि की दाहकशक्ति का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान समझना चाहिये, फिर देखो कि संयोग के कारण जल में उष्णता यह धर्म उत्पन्न होता है और ऐसा ही वियोग होने से उष्णता धर्म नहीं रहता, इस लिये जल के उष्णताविषय का जो ज्ञान है वह नैमित्तिक ज्ञान है और जल में शीतलता विषय का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञान होता है, अब जीवको--मैं हूं, अर्थात् अपने अस्तित्व का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक ज्ञानहै, परन्तु चक्षु, श्रोत्र इत्यादि

इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मा का नैमित्तिक ज्ञान है, यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है, देश, काल और वस्तु, इन तीनों का जैसा २ कर्मेन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है वैसे वैसे संस्कार आत्मा पर होते हैं, अब जैसे ये निमित्त निकल जाते हैं वैसे २ इस नैमित्तिक ज्ञान का नाश होता है अर्थात् पूर्व जन्म का देश, काल, शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता, इस को छोड़ इस विचार में एक बात और ध्यान में रखने योग्य है कि ज्ञान का ही स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपत् क्रम से होता है अर्थात् एक ही समयावच्छेद करके आत्मा के बीच दो तीन ज्ञान एकदम नहीं स्फुरने लगते, इस नियम की लापिका से पूर्वजन्म के विस्मरण का समाधान भलीभांति होजाता है, इस जन्म में मैं हूँ अर्थात् अपनी स्थिति का ज्ञान आत्मा को ठीक २ रहता है, इसी लिये पूर्व जन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता।

फिर इसी जन्म ही में कैसी २ व्यवस्था होती है इस

का भी विचार करें, मैं ही जो इतना भाषण कर चुका हूँ उस भाषण का उसी तरह उस सम्बन्ध के मनोव्यापार की सब परम्पराओं का मुझे कहां स्मरण रहा है? हां! भाषण के स्थूलावयव का तो अवश्य स्मरण रहा है परन्तु बोलते ही बोलते सूक्ष्म अवयवों का विस्मरण होगया है, इस से यह नहीं मानते बनता कि मैंने भाषण ही नहीं किया, फिर देखो जो बातें बाल्यावस्था में हुई उन का अब विस्मरण हुआ है सो इस से वे बाल्यावस्था में थी ही नहीं--ऐसा नहीं मानते बनता, पुनरपि जाग्रत् अवस्था में जिन २ बातों का स्मरण रहता है उन २ बातों का निद्रा में सर्वथैव विस्मरण होता है, इन सब कारणों से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म का स्मरण नहीं होता, इतने ही से पूर्व जन्म का असम्भवपना सिद्ध नहीं होता—दो जन्म के बीच मृत्यु आ फँसी है और मृत्यु होना अर्थात् महाव्याहृत अंधकार के बीच में गिरना है।

फिर देखो मन का धर्म कैसा है इसका विचार करो, मन का स्वभाव ऐसा है कि वह सन्निधि पदार्थ के विषय

राग द्वेष उत्पन्न करता रहे, सन्निध्य छूटने से उस को विस्मरण होता है फिर अर्थात् पूर्वजन्मावस्था में के दूरगत पदार्थों के विषय यदि आत्मा को विस्मरण होता है तो इस में आश्चर्य ही क्या है, अर्थात् इस में कुछ भी आश्चर्य नहीं, मैं एक दृष्टान्त देता हूँ--पाठशाला में कुछ विद्यार्थी विद्याध्ययन करते रहते हैं उन में से कुछ लड़कों को अपने विषयों की समझ झट उत्पन्न हो जाती है तो दूसरे कुछ ऐसे भी होते हैं कि उन्हें वह विषय उपस्थित या समझने के लिये कुछ विलम्ब लगता है, परन्तु तीसरे को तो उसी विषय के उपस्थित करने में बड़ी ही कठिनता पड़ती है, इस प्रकार यहीं के यहीं ही उत्तम बुद्धि, मध्यमबुद्धि और अधमबुद्धि ऐसे भिन्न २ प्रकार दीखते हैं तो फिर भला मरने के पीछे पूर्व जन्म के ज्ञान की उपस्थिति के विषय कितनी दिक्कत होती होगी यह सहजही ध्यान में आसक्ता है, इस से जन्म एक ही है ऐसा प्रमाण मानना--यह बिलकुल युक्तिविरुद्ध है।

ज्ञान यह आठ प्रकार का होता है, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव

में से आठ प्रकार हैं, इनमें इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्रत्यक्ष ज्ञान यह तो बिलकुल ही क्षुद्र है, अव्यभिचारी, अव्यपदेशी और निश्चित ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षरूप से कभी भी नहीं होता।

इस से दूसरे ज्ञान साधन का अवलम्बन करना आवश्यक हुआ, दृष्टान्त—कि जो कोई वैद्य नहीं है ऐसे पुरुष को यदि रोग हो जाय तो वह नहीं जान सकता कि मुझे किस कारण से यह रोग हुआ तो फिर उस बेचारे को निदान का ज्ञान तो कहां से हो सकता है? जो रोगी को ऐसा ज्ञान नहीं है तो भी इस से यह कहते नहीं बनता कि उसे रोग ही नहीं है, क्योंकि कारण बिना कार्य नहीं होता, इस लिये इस रोग का भी कुछ न कुछ कारण होना ही चाहिये, ऐसा अनुमान होता है रोगी को कारण का ही केवल ज्ञान न होने से रोग का कारण नहीं है ऐसा भी क्या कभी किसी ने माना है? कभी नहीं, आगे रोग देखकर और उसका निदान और चिकित्सा कर २ अमुक २ कारण से यह रोग उत्पन्न हुआ है ऐसा अनुमान प्रमाण बलपूर्वक वैद्य ठहराता है और फिर वह बात हमें भी स्वीकार करनी पड़ती है, ऐसी योग्यता अनुमान

प्रमाण की है, अस्तु परमात्मा न्यायकारी और निष्पक्ष है यह बात भी सब स्वीकार करते हैं ऐसे न्यायकारी परमात्मा द्वारा निर्मित संसार में लोगों की स्थिति के बीच और सुख लाभ में बड़ा ही भेद दीखता है, यह भी निर्विवाद है, इस के विषय दृष्टान्त देना चाहिये देखो एक ही मा बाप के दो पुत्र हुए और उन्हें एक ही गुरु के पास अध्ययन के लिये रक्खा और उनके खाने पीने की व्यवस्था भी एक ही सी रक्खी, ऐसा होते हुये भी एक लड़के की धारणाशक्ति उत्तम होकर वह बड़ा विद्वान् नीतिमान् होता है तो दूसरा भूलनेवाला, मूर्ख ऐसा ही रहता है, सो बतलाओ इस का क्या कारण है? इस बुद्धिभेद का कारण इस जन्म में तो कुछ भी नहीं है और भेद तो प्रतीत होता है, यदि यह कहें कि ऐसा निरर्थक भेद ईश्वर ने किया तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है, यदि कहें ईश्वर ने नहीं किया तो भेद की उत्पत्ति नहीं होती, तो इस से पूर्व जन्म है ऐसा ही मानना अवश्य होता है, पूर्वजन्मार्जित पाप पुण्य के अनुसार यह व्यवस्था होती है ऐसा माने बिना दूसरी कोई भी कल्पना नहीं जमती। अस्तु—एक जन्मवादी ऐसा कहेंगे कि ईश्वर

स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी है जैसे कोई माली अपने बगीचे में चाहे जैसे वृक्ष लगाता है और चाहे उसे खाद डाल बढ़ाता है उसी तरह इस जगत् में ईश्वर की लीला है, इस प्रकार का स्वातन्त्र्य ईश्वर में मानने से ईश्वर के न्यायत्व की हानि होती है और उन्मत्तप्रसंग ईश्वर पर आता है, परन्तु सब प्रकार सृष्टिक्रम के और वेद के अवलोकन से परमेश्वर न्यायी है ऐसा सिद्ध होता है, तब इस विरोध का निराकरण करने के लिये पूर्व जन्म था ऐसा मानना ही चाहिये, यदि ऐसा न मानें तो स्थितिभेद कैसा उत्पन्न होता है इसका सम्यक (ठीक २) उत्तर नहीं मिलता, संग प्रसंग भेद से यह स्थितिभेद हुआ ऐसा भी कहते नहीं बनता, क्योंकि संग प्रसंग भेद की कल्पना जहां नहीं है, ऐसी जो माता के उदर में की स्थिति वह भी सबों के लिये कहां समान रहती है ? पेट में होते हुये एक जीव के लिये सुख होता है तो दूसरे को वहीं क्लेश होते हैं, एक धर्म्मात्मा के पेट जन्मता है और दूसरा पापस्थान में जन्म लेता है तो बताओ यह भेद कहां से और क्यों-कर हुआ ? पूर्वजन्म न मानने से इस भेद के कारण

ईश्वर पर कितना भारी दोष आता है इस का कुछ विचार करो, पूर्वजन्म के विषय उपर्युक्त अनुमान के सिवाय एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है, जीव की शरीर चेष्टा होने के पूर्व (प्रथम) इसे प्रत्यक्ष होती है फिर आत्मा पर संस्कार होता है फिर स्मृति होती है, यह प्रकार सर्वत्र कार्य के विषय प्रवृत्ति निवृत्ति होती है; यह प्रकार सर्वत्र प्रतीत होता है, अब देखो कि शरीरयोनि में से बच्चा बाहर पड़ने के पूर्व पेट में था, बाहर गिरते ही श्वास लेने वा रोने लगता है तो यह प्रवृत्ति उसे पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगी ? माता का स्तन खींच कर दूध पीने लगजाता है यह प्रवृत्ति कहां से थी ? दूध के विषय तृप्त होने पर निवृत्त होता है तो यह निवृत्ति भी किस प्रकार की है ? माता ने कुछ धमकी दी तो झट बच्चा समझता है तो यह पूर्व संस्कारों के विना कैसे होगा ? इस से निश्चयपूर्वक पूर्व जन्म था यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है । पुनरपि, सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय का क्रम; यदि देखा जाय तो उस सादृश्य से जीव सृष्टि का भी पूर्वजन्म था,

यह हमारा मध्यम जन्म है और मोक्ष होने तक अभी भी जन्म होनेवाले हैं, इस परम्परा से इस मध्यजन्म की सम्भावना तभी हुई जब कि पूर्वजन्म पहिले था क्योंकि यदि कुयें में जल न हो तो डोल में पानी कहां से आवे इस दृष्टान्त योजना इस स्थल पर ठीक होती है, अब कोई यह कहे कि परमेश्वर तो सदा व्यवस्था करते हुये बैठा है और यह व्यवस्था कभी तो बिगड़ती है और कभी सध भी जाती है, जैसे ईसाइयों के धर्म पुस्तक में कहा है कि ईश्वर ने एक सुन्दर बगीचा बनाया और उस में एक स्त्री पुरुष का जोड़ा रख उस में एक ज्ञानवल्ली भी लगा रक्खी और परमेश्वर ने दोनों स्त्री पुरुषों को आज्ञादी कि तुम ज्ञान के पेड़ के फल मत खाना अर्थात् तुम अज्ञानी रहो, तब सहज ही उन स्त्री पुरुषों ने ईश्वरीय आज्ञा को तोड़ा तो परमेश्वर को बड़ा गुस्सा आया, फिर तो ईश्वर ने उन्हें वहां से निकाल दिया, परन्तु अब सोचो कि यदि ईश्वर की व्यवस्था इस प्रकार बिगड़ गई तो वह सर्वज्ञ कैसे रहा ? इस लिये ऐसी २ व्यवस्था ठीक नहीं, इसी वास्ते एक-जन्म-वाद भी नहीं जमता,

ईश्वर सब जगत् का धारणमात्र करता है परन्तु उसने कृति एकही दफ़े कर रक्खी है ऐसा जानना चाहिये, कोई ऐसा न समझे कि उस ने सात दिन श्रम किया और फिर आठवें दिन आराम किया अर्थात् विश्राम लिया, यह कहना सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के विषय किसी प्रकार नहीं सम्भव होता, उसी प्रकार बीच के बीच जो व्यवस्था की-उसे एक समय भूला और फि उसे ठीक करूं यह ईश्वर के मन में आया इस लिये उ ने लोगों के पापनिवारणार्थ यह व्यवस्था की यह कहना भी ठीक २ नहीं सम्भव होता, मनुष्य को स्वमत के विषय सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है यह मनुष्य का स्वभाव है, परन्तु सुज्ञ पुरुषों को उचित है कि दुराग्रह को फेंक सत्य की परीक्षा करें यही उन का भूषण है।

अब कोई २ ऐसा भी पूर्वपक्ष करते हैं कि राजा पालकी में बैठता है और कहार पालकी ले जाता है इसमें एक को सुख अधिक और दूसरे को दुःख अधिक है ऐसा कहना यह भ्रम है, राजाके मनमें परचक्र की अथवा राज्यव्यवस्था की चिन्ता दुःखका पहाड़ उत्पन्न करती रहती

है, इस लिये बाहर से जितना राजा को सुख होता है उतना ही अन्दरसे दुःख रहता है, रात्रि को नींद आने में भी हाय वांय मचती है, इधर देखो तो इस के बिलकुल विरुद्ध, कहार को बाहर से तो बड़ा क्लेश होता है पालकी वहना पड़ता है और सूखी रूखी रोटी उसे मिलती है तौ भी कम्मल डाल लेटतेही गाढ़ निद्रा में सोता है अर्थात् स्वस्थता से उसे नींद आती है, इस से दोनों स्थितियों में सुख दुःख समानही है, इस लिये एक जन्महीं मानना ठीक है, इस पूर्वपक्ष का समाधान सहज ही में किया जा सक्ता है—

श्रीमानों को और दरिद्रियों को, सशक्तों को और अशक्तों को सुख दुःख समान ही है यह कहना सारे अनुभवों के विरुद्ध है, राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और भंगी के भी एक पुत्र हुआ, राजपुत्र को गर्भ समय में सुख, जन्मते समय सुख, आगे लड़कपन में भी सुख, खाने पीने के और दूसरे सब प्रकार के पदार्थ हाथ में ले खिदमतगार (सेवक) लोग तैयार हाज़िरी में खड़े रहते हैं, इस के विरुद्ध भंगी के लड़के को गर्भ समय में

दुःख, जन्मते समय किसी पाषाण के सदृश पेट में से बाहर आ पड़ता है, बाल्यवस्था में खाने पीने में भी रोना पीटना मचा रहता है, वस्त्र का तो नाम तक निकालते नहीं बनता, अन्न जल के लिये बेचारे को रो २ कर जीवन बिताना पड़ता है, सारांश-इस प्रकार के अनेक कार्य दृष्टिगत होते हैं तो बतलाओ यह सुख दुःख का भेद कहां से आया? फिर देखो कि सब मनुष्य जीवों की सम्पत्ति मिले और अपने से श्रेष्ठ लोगों की सी स्थिति प्राप्त हो यह स्वाभाविक इच्छा रहती ही है, यह भी तुम देखते ही रहते हो, इस इच्छा के कारण सब संसार का क्रम चल रहा है इस से सिद्ध हुआ कि सुख दुःख भेद वास्तविक है अर्थात् भ्रम नहीं है, अब यदि सुख दुःख भेद है और जन्म भी एकही है तो ईश्वर इस से अन्यायी ठहरता है और ईश्वर में अन्याय का आरोपण करना यह हमारे मयम सिद्धान्त के विरुद्ध है, इस लिये जन्म अनेक हैं यही कहना योग्य है, अर्थात् ईश्वर न्यायकारी है और जन्मान्तर के अपराधानुरूप जीवों को वह दण्ड करता है, अर्थात् जितना ही तीव्र पाप जीव करता है उतना

ही उसे दुःख भोगना पड़ता है, ऐसा सिद्ध होता है।

कोई २ ऐसा पूर्वपक्ष करें कि मनुष्य के पाप करने के कारण वह पशु जन्म को गया, ऐसा कुछ काल के लिये मान भी लें परन्तु वह पशु होते "मैंने पाप किया इस लिये यह पशु जन्म मुझे प्राप्त हुआ है" ऐसा यदि उस मनुष्य को ज्ञान नहीं है तो ज्ञान बिना दण्ड भोगना यह व्यवस्था किस प्रकार की है ?

इस का समाधान—इस जन्म में भी ऐसी ही व्यवस्था दीखती है, दुःख भोगते भी दुःख के कारण का भान कभी भी नहीं रहता, अघोरी बन बहुत खालिया और फिर उस के कारण कोई रोग शरीर में जकड़ा तो उस समय जो दुःख होता है उस दुःख के कारण उसके असल सबब का स्मरण रहता हो ऐसा कभी भी देखने में नहीं आता, इसी तरह अन्यत्र बहुत सी व्यवस्था इस संसार में प्रतीत होगी, अर्थात् वैसी व्यवस्था मिल सकेगी।

अस्तु इस संसार में सुख दुःख के जो भेद दीखते

हैं उन का कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये, कारण के विना ये कार्य नहीं हो सकेंगे, इन सुख दुःख के भेदों के कारण पूर्वजन्म के कर्म हैं इस लिये शेषवत् अनुमान से सुख दुःखादि भेदों की व्यवस्था ठीक २ लगजाती है, अब कर्मों को भी कहा जाय तो वे भी विचित्र हैं, नाना प्रकार के आत्मा पर जो संस्कार होते हैं उनके कारण नानाप्रकार के मानसकर्म उत्पन्न होते हैं, ईश्वर की ऐसी व्यवस्था है कि उन २ कर्मों के योग से पाप पुण्य उत्पन्न होने चाहियें, इस प्रकार पाप पुण्य का हिस्सा विना भोगे छुटकारा नहीं होता, अर्थात् पापों को भोगना ही पड़ेगा वे कर्म भी नहीं छूटते, अब कोई ऐसा कहे कि ईश्वर की भक्ति, प्रार्थना आदि करने से उसे दया आती है और फिर वह पाप का दण्ड नहीं देता, सो इस पूर्वपक्ष का समाधान सरल है कि ईश्वर की भक्ति वा प्रार्थना से पूर्वकृत पापों का दण्ड नहीं छुटता किन्तु यह तो सम्भव है कि आगे के होने वाले पापों से केवल निवृत्ति होती है, यदि ऐसा न होता तो पाप करने के लिये यत्किञ्चत् भी भीति किसी को भी

न लगी रहती, अब इस सम्बन्ध में एक बात और कहना चाहिये कि कोई कोई ऐसी शंका करेंगे कि ईश्वर सर्वज्ञ है उसे हमारे मन के सारे भाव विदित ही हैं अर्थात् जैसे पतिव्रता की भक्ति किस की है और वेश्याओं के सदृश भक्ति किस की है यह उसे विदित है, हम मनुष्यों को तो प्रसंगवशात् ही केवल लोगों के मनोभाव विदित होते हैं, ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण उसे सदैव सब लोगों के मनोभाव, पाप पुण्य वासना और परमेश्वर भक्ति भावना ये सब प्रत्यक्ष हैं, यदि पूर्वकृत पापों को अवश्य भोगना पड़े और ईश्वर की भक्ति करने से वह दया कर न पापदण्ड से तो न छुड़ावे तो फिर मुक्ति किस प्रकार होगी? ऐसी शंका है इस लिये—मुक्ति किसको कहते हैं इसका ही प्रथम विचार करें।

मुक्ति अर्थात् ईश्वर प्राप्ति, ईश्वर की ओर जीव का आकर्षण होकर उसके परमानन्द में तल्लीन हो जाना यही मुक्ति का लक्षण है, इस प्रकार तल्लीन होने से सहज ही में हर्ष और शोक दूर होकर सदानन्दस्थिति प्राप्त होती है, शोक से चित्त बिगड़ता है यह तो ठीक ही है परन्तु

हर्ष सेभी चित्त बिगड़ जाता है इसे दिखलाने के लिये दृष्टांत देना चाहिये, किसी ग़रीब आदमी को लाख रुपया एकदम मिलने से उस हर्ष के कारण उसे पागलपना आ घेरता है, सबों को यह एक बात स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर को छोड़ चाहे कितने ही दूसरे कर्म किये जायँ परन्तु उन से आत्मा मुक्त नहीं होता, मुक्ति होने के लिये जो कुछ है वह एक ही ईश्वर प्राप्ति का कारण है।

अब कोई ऐसा पूर्वपक्ष करेगा कि जब कि हम सृष्टि को अनादि नहीं मानते तो अवश्य सृष्टि का कहीं न कहीं प्रारम्भ होना ही चाहिये, और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ उस समय योनिभेद था, यदि ऐसा कहा जाय तो ईश्वर अन्यायी ठहरेगा क्योंकि कुछ आत्मा पशु आदिकों के नीच योनि में जायँ और कुछेक मनुष्य की योनि में जायँ यह कैसा! इस पूर्वपक्षी का समाधान ऐसा है, कोई २ ऐसा कहते हैं कि पहिले परमेश्वर ने एक स्त्री पुरुष का जोड़ा उत्पन्न किया, फिर स्त्री ने सर्प के कहने से ज्ञान वल्ली का फल खाया तब स्त्री के अपराध के कारण पुरुष पतित हुये इस लिये जगत् में पाप और पुण्य हुआ

तो ऐसी २ गपोड़ कहानियों को कह कर हम अपना समाधान नहीं करते, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई और इस विषय में आर्य लोगों के शास्त्र द्वारा सूक्ष्म रीति से क्या विचार किया गया है उसे देखें, जिस स्थिति में आजकल सृष्टि है उसी स्थिति में प्रारम्भ में सृष्टि नहीं थी इसीलिए वर्तमान सृष्टि को उत्तरसृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूं और पूर्वसृष्टि को आदिसृष्टि ऐसी संज्ञा देता हूं कि जिस से झट समझ में आ जाय।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः ॥ इत्यादि ॥

(तै० उपनि०)

आदिसृष्टि में ईश्वर ने बहुत से मनुष्य, पशु और पक्षी उत्पन्न किये "ततो मनुष्या अजायन्त" इत्यादि य० सं० में है, परन्तु उनमें अब जैसा ज्ञान के कारण और कृति के कारण भेद न था उन सबों को केवल आहार

विहार और मैथुन इतना ही केवल विदित था और इन विषयों में भी सब प्राणी एक ही से और एकरस थे, सब शरीर सब जीवों के भोग के लिये हैं अर्थात् एक ही जीव के लिये नहीं हैं, ये सब जीव जन्तु परमेश्वर से उत्पन्न हुये।

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सं-प्रतिष्ठाः। तथाक्षरात्सोम्येमाः प्रजा प्रजायन्ते-इत्यादि० ॥

(छान्दोग्योपनिषद्)

जैसे छोटे २ बच्चों को अब भी यहां पर स्थित रहते हुये उसी तरह आगे मरने पर किसी प्रकार का दण्ड नहीं होता, उसी तरह इस आदिसृष्टि में सब मनुष्य बाल्यावस्था में थे उन की अशिष्टातिषिद्ध चेष्टा थी अर्थात् उन्हें शासन वा प्रतिषेध नहीं लगाये थे, नेत्रों से अपना काम करें अर्थात् रूप को देखें, श्रोत्रों से अपना काम करें अर्थात् शब्द सुनें, पांव से अपना काम करें अर्थात् इधर उधर फिरें, बस इस से और विशेष व्यापार आदि सृष्टि में नहीं

था, ऐसी व्यवस्था आदि सृष्टि में पांच वर्ष चलती रही फिर परमात्मा ने मनुष्यों को वेदज्ञान दिया।

ओ३म् खंब्रह्म । याथातथ्यतोर्थान्व्यदधा-च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (य० सं०)

अब वेदज्ञान से पाप पुण्य का ज्ञान हुआ और वैसा वैसा आचरण भेद होता गया, फिर प्रत्यक्ष ही है कि पाप पुण्य की व्यवस्था के अनुसार सहज ही में कार्य्य उत्पन्न होने लगे, मनुष्य पाप के कारण पशुजन्म को गये और पाप छूटने पर फिर भी मनुष्य जन्म में आये, आदिसृष्टि में पशुओं को एक दफे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ फिर तो आचार भेद के अनुकूल पाप पुण्यानुसार वे भी जन्मान्तर के चक्कर में आफँसे, अब कोई २ ऐसी भी शंका करें कि मनुष्य को पाप वासना ही क्यों हुई ? तो उस का इतना ही समाधान है कि परमात्मा ने मनुष्यों को स्वतंत्रता दी है और उस स्वतन्त्रता के जो २ परिणाम होवेंगे उन्हें भी स्वीकार करने चाहिये, सुख के सब सामान होने पर भी यदि स्वतंत्रता नहीं है तो वह स्थिति दुःखमिश्रित स्वतन्त्रता देकर अतिदुःसह होती है तब पाप वासना होती है यह

अपनी स्वतन्त्रता का विकार है इस लिये ईश्वर पर दोष नहीं लगा सकते, कोई २ ऐसा मानते हैं कि दुःखविशेष देश नरक है और सुखविशेष देश स्वर्ग है और इस उभय प्रदेश में मनुष्य को पाप पुण्य के अनुकूल एक समय जगत् प्रलय के समय में न्याय कर कर अनन्त काल तक सुख में व दुःख में ईश्वर रक्खेगा, ऐसा प्रतिपादन करने से ईश्वर अन्यायी ठहरेगा, ईश्वर के न्याय का ऐसा अटकाव नहीं है, प्रत्येक क्षण में ईश्वर के न्याय की व्यवस्था जारी है और अपने २ पाप पुण्य के अनुसार ही बुरा भला जन्म मिलता है।

पाप पुण्य मनुष्य जन्मही में केवल होते हैं पश्वादिकों के जन्म में भोग होता है, नये पाप सम्पादन नहीं होते, कोई कोई शंका करेंगे कि मनुष्य जन्म एक ही समय मिलता है वा कैसे ? तो इस का उत्तर यह है कि मनुष्यजन्म बारम्बार प्राप्त होता है, अब पहिले कह ही चुके हैं कि मृत्यु अर्थात् जीव का और शरीर का वियोग होना यह है तो वह कैसे आता है, इस विषय में कोई २ कहते हैं कि गरुड़पुरान में कहे अनुसार मनुष्य का प्राण हरण करने के

लिये यमदूत आते हैं, इन यमदूतों के मुख दरवाज़े इतने बड़े होते हैं और शरीर पर्वत के सदृश होते हैं यह वर्णन सर्वथैव अतिशयोक्ति का है, निरुक्त में अन्तरिक्ष काण्ड है उस में वायु को यमराज, धर्मराज ये नाम दिये हैं—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैव हृदिस्थतः ।

इस से जीव यम की ओर जाता है अर्थात् वायु में वायु अन्य योनि के बीच उसका प्रवेश होता है ऐसा समझना चाहिये—

मरने पर जीव वायु में मिलता है, अस्तु, ऐसे ऐसे हमारे उपदेश से कट्टड़ा लोगों की हानि होगी, विद्वानों की क्या हानि हो सक्ती है ? अर्थात् विद्वानों की कुछ भी हानि नहीं है। हां ! अवश्य धूर्तों की हानि हो तो हो हमारा निरुपाय है।

कोई २ ऐसा भी कहते हैं कि जीव के परन्तु जीविका न ले, हमारे भाषण से वा लेख से गरुड़पुराणादिक ग्रन्थों के विषय में लोगों की अश्रद्धा होने से फिर स्वयं ही कट्टड़ाओं की जीविका डूबेगी उस से हमें पाप लगेगा,

सो भाई हमें उस का भय नहीं है, क्योंकि राजा दुष्ट लोगों को दण्ड करता है उसी तरह हमारे वचनों से दुष्टों की जीविका डूबेगी तो उस में हमें पाप किस बात का लगेगा ? ब्राह्मणों को अर्थात् विद्वान् आर्यों को अध्यापन, याजन करने का अधिकार है, उन्हें मतलब सिन्धु साधने के लिये कट्टहापन का धन्धा करना या जन्मपत्रिका बनाना या आप ही शनि बन लोगों को ठगना और दुष्ट उपायों से उपजीविका करना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि ये सब पाप आज कल के उन ब्राह्मणों के सिर मढ़ते हैं, ज़रा विचार तो करो कि कहीं भी महाभारत भर में जन्मपत्रिका का वर्णन आया है ? कहीं भी नहीं, इस से सिद्ध हुआ कि फल ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्यविद्या में नहीं है यह स्पष्ट है, मृत्यु समय में यमदूत जीव को ले जाता है इस से यह आशय समझे कि वायु जीव का हरण करता है, अस्तु, वायु मनुष्य को हरता है और फिर आगे पुनर्जन्म प्राप्त होता है, इस प्रकार ईश्वर नियम की व्यवस्था से यह सब सहज ही में बन आता है इस में कहां से वैतरणी नदी और गोपुच्छादि पाखण्ड मत को अवकाश हो सक

है ? अर्थात् इन सारे प्रकारों का आधार वेदादि सत् शास्त्रों में कहीं भी नहीं।

चौरासी लाख योनियां हैं अथवा न्यूनाधिक हैं तो इन गपोड़ कथाओं का वर्णन करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है, जगत में कितनी योनियां हैं इस का शोध लगा, गिनकर हमारे शास्त्री लोग बतावें।

विद्वांसो हि देवाः शतं ये मनुष्याणामानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येत्यादि (तै० उपनिषद्)

जिन के पाप पुण्य सम होते हैं वे मनुष्यजन्म पाते हैं, मानसिक स्थिति सात्विक जिन की रहती है वे देवता पापातिशय के कारण तिर्यग योनि को प्राप्त होते हैं, परन्तु पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हो अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो तो इन्हें भोग कर जब ही पाप पुण्य सम हुआ कि मानो मनुष्यजन्म प्राप्त होता ही है, इस प्रकार पाप पुण्य पर सारी व्यवस्था ईश्वर ने नियत कर रक्खी है और यही व्यवस्था यथार्थ है।

अब कोई ऐसी शंका निकालें कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सक्ता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चात्ताप से कुछ भी लाभ नहीं है कि क्या ? इस का उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता परन्तु आगे पाप करना बंद हो सक्ता है।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥
(मनु० अ० ११ श्लोक० २३०)

चाहे कितना भी पश्चात्ताप किया जावे तो भी कृत पापों को तो भोगना ही चाहिये, इस का दृष्टान्त जैसे कोई कुयें में गिरा और उसके हाथ पांव टूट गये तो अब वह चाहे कितना ही पश्चात्ताप करे तो भी उस के हाथ पांव जो टूटे सो तो टूट ही चुके वह तो कुछ भी किये नहीं छूट सक्ता, हां आगे के लिये कुयें में न गिरेगा इतना ही केवल होगा।

अब पाप का फल शोक है और पुण्य का फल हर्ष है, तो पाप पुण्य भोगने के लिये देश, काल, वस्तु ये साधन

भी अवश्य चाहिये, इन निमित्तों के विना भोग कैसे होगा ? जब कि भोग न भोगा जावेगा तो फिर आनन्द भी कैसे प्राप्त होगा ? अब इस पर कोई ऐसा कहेगा कि मुक्त समय में शरीर न होने पर मुक्तजीव को सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान होकर वह परमेश्वर को ही जाकर लटकता है फिर एक परमेश्वर ही उसका आधार रहा और फिर ऐसे परमानन्द समय में शरीर का प्रयोजन नहीं है ? तो जानना चाहिये कि शरीर अर्थात् भोगायतन वह इस जगत् में पाप पुण्य भोगने का साधन है, इस का सम्बन्ध मूलावस्था में नहीं है ।

अब पुनरपि, मुक्त जीव का ज्ञान कैसा है इस का विचार करें ।

कोई ऐसी शंका करेगा कि इस जन्म में पूर्व जन्म का विस्मरण होता है तो सर्वदैव जीव को पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं होगा । जिस ज्ञान का निमित्त छूटता है तो उस ज्ञान की भी भूल होती है ।

"युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्"

(गौतमसूत्र)

ये सब आपत्तियां अमुक्त आत्मा को लगती हैं परन्तु धनञ्जय वायु का जिसे ज्ञान हुआ है और जिस का आत्मा उस में सञ्चार कर सकता है और जिस के आत्मा से पूर्व-जन्म संस्कार निकल चुके हैं वह और जिस के आत्मा में शान्ति उत्पन्न हुई है, जिस के आत्मा को अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, ज्ञानोन्नति की पहिचान हो चुकी है और जिस की दृष्टि को और मनोवृत्ति को ज्ञान सुख के बिना अन्य सुख विदित नहीं हैं ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है, ऐसे मुक्त पुरुषों को देश, काल, वस्तु, परिच्छेद ज्ञान होता है इन्हें युगपत् ज्ञानकी अटक नहीं है, इस का दृष्टान्त-जैसे एक कण शक्कर का यदि चींटी को मिले तो वह उसे लेजाया चाहती है परन्तु उसे वहीं एक शक्कर का गोला मिलजाय तो उसी शक्कर के गोले को वहीं पर चींटी लिपट जाती है, इसी तरह योगियों की आत्मा की स्थिति परमानन्द प्राप्त होने पर होती है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

सातवां व्याख्यान ।

यज्ञ और संस्कार विषयक ।

—:*:—

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष॑ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिःसर्व॑ शान्तिः शान्तिरेवशान्तिः सामाशान्तिरेधि ॥१॥

(य० सं०)

यह ऋचा कह कर व्याख्यान का आरम्भ किया। यज्ञ और संस्कार क्या है इस का विचार आज कर्त्तव्य है।

प्रथम यज्ञ का विचार करें—यज्ञ का अर्थ क्या है ? यज्ञ के साधन कौन २ से हैं ? उस की कृति कैसी है ? और उनके फल कौन २ से हैं ? ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं, इन के उत्तर अब हम यथाक्रम देते हैं, यज्ञ शब्द

के तीन अर्थ हैं,-प्रथम देव पूजा, दूसरा संगति करण और तीसरा अर्थ दान है।

अब प्रथम देवपूजा के विषय में विचार करें, केवल देव पद का मूलअर्थ द्योतक अर्थात् प्रकाशस्वरूप है, और वेद मन्त्रों की भी देव संज्ञा है, क्योंकि उनके कारण विद्याओं का द्योतन अर्थात् प्रकाश होता है, यह कर्मकाण्ड का विषय है, यज्ञ में अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्य्यन्त का समावेश होता है, देव शब्द का अर्थ परमात्मा भी है क्योंकि उसने वेद का अर्थात् ज्ञान का और सूर्यादि जड़ों का प्रकाश किया है, देव अर्थात् विद्वान ऐसा भी अर्थ होता है क्योंकि शतपथ ब्राह्मण नामक ग्रंथ में "विद्वाꣳसोहि। देवाः" ऐसा वर्णन किया है, पूजा शब्द का अर्थ सत्कार है।

"पितृभिर्भ्रा०। पूजितोऽतिथिः। पूजितो-गुरुः। इत्यादि।

अब देव की पूजा कहने से परमात्मा का सत्कार करना यह अर्थ होता है, चेतन पदार्थों ही का केवल सत्कार सम्भवित है, जड़ पदार्थों का अर्थात् मूर्त्तियों का

सत्कार नहीं सम्भव होता, मुख्यतत्व से वेदमन्त्र के पठन से ईश्वर का सत्कार होता है इस लिये प्राचीन आर्य लोगों ने होम के स्थल में मन्त्रों की योजना की है, इसी तरह यज्ञशाला को देवायतन अथवा देवालय कहा है।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।

म० भा०

इसीलिये ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदाध्यायन भी पांच महायज्ञों में से एक यज्ञ है।

" स्वाध्यायेनार्च्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथा विधि " मनुः।

इस कथन से अर्वाचीन देवालय अर्थात् मन्दिरों को कोई न समझे, देवालय का अर्थ तो यज्ञशाला ही है।

अब दूसरा अर्थ--संगतिकरण-अर्थात् अत्यन्त प्रीति-पूर्वक, प्रेमपूर्वक, देवता का ध्यान, देवता का विचार तथा सत्पुरुषों का संग करना इसे भी यज्ञही कहते हैं।

अब तीसरा अर्थ दान है--विद्यादान को छोड़

दूसरे दान, दान नहीं हैं, केवल विद्या का दानही दान है, अन्न वस्त्रादिकों के दान विद्यादान की सहायता करते हैं इस लिये उन्हें भी दान कहना उचित है, विद्यादान अक्षयदान है।

अब यज्ञ से क्या क्या फल होते हैं इस का विचार करें, यज्ञ का मुख्यार्थ वेदों में काष्ठ घृतादिकों का दहन करना है, तो इस में ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि व्यर्थही काष्ठादि तथा घृतादि द्रव्यों को अग्नि में क्यों जलावें इसका समाधान यह है कि—

शतपथब्राह्मण में कहा है—

'जनतायै यज्ञो भवतीति' (शतपथब्राह्मण)

पुष्टि, वर्धन, सुगंधप्रसार और नैरोग्य ये चार उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं, ये लाभ उपदिष्ट रीति से होम होने परही होते हैं, कहा है कि—

संस्कृतं हविः । होतव्यमिति शेषः ।

[शतपथब्राह्मण]

योग्यरीति से यथा विधि होम करना चाहिये, एकदम

मन भर घी जला दिया वा चम्मच चम्मच करके मनभर घृतको वर्ष भर जलाते रहे तो भी होम नहीं होगा—फिर कोई २ कहते हैं कि होम अर्थात् देवतोद्देशक त्याग है, देवता लोग यजनदेश में आकर सुगन्धि लेते हैं इस लिये होम करना चाहिये तो यह कहना अप्रशस्त है।

क्या देवलोक में कुछ सुगन्धि की न्यूनता है जो वे हमारे क्षुद्र हविर्द्रव्य की अपेक्षा करते हैं?

इसी तरह कोई २ कहते हैं कि श्राद्धादिकों में पितृ लोग आते हैं और यदि उन्हें श्राद्धान्न और तर्पण का जल न मिले तो वे तृषार्त्त रहते हैं तो क्या वे प्यासे रह कर भूखों मरेंगे? और पितृलोक में सब दरिद्रता ही दरिद्रता है? सारांश यह कि सब समझ और विचार ठीक नहीं है क्योंकि देवलोक में वा पितृलोक में कुछ न्यूनता नहीं है, होम--हवन उन के उद्देश्य से कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु सुवृष्टि और वायु शुद्धि होम हवनादि से होती है इस लिये होम करना चाहिये, क्योंकि सब प्रकार के नैरोग्य और बुद्धि वैशद्य को वायु और जल का ही आधार है, इस में दृष्टान्त सुनो कि इन दिनों पंढरपुर में (हिन्दू लोगों

की एक यात्रा का स्थान है) बड़ा हैजा (विसूचिका) जारी है तो वहां का जल वायु ही बिगड़ने से इस बात का कारण हुआ, हरद्वार में एक समय मेला हुआ था वहां पर वायु बिगड़ने से हज़ारों मनुष्य काल वश हुये अर्थात् मरगये, ब्रह्माण्ड में सञ्चार करने वाला जो वायु है वही जीवका हेतु है, अन्तरवायु द्वारा ठीक ठीक व्यापार होवे इस लिये बाहर का ब्रह्माण्डवायु शुद्ध रहना चाहिये, ब्रह्माण्डवायु शुद्ध करने के लिये यज्ञकुण्ड में घृत, कस्तूरी केशरादि सुगन्धित, पुष्टिकारक द्रव्यों का हवन करना चाहिये, सुगन्धित द्रव्यों के दहन से ब्रह्माण्ड वायु की दुर्गन्धि का नाश होता है इस हवन के कारण जो सुगन्धि उत्पन्न होती है उस सुगन्धि के सन्मुख वायु के सब दुष्ट दोष दूर होकर नैरोग्य उत्पन्न होता है, अब कोई अर्वाचीन लोग ऐसी शंका करें कि पदार्थों का दहन होने से उन का पृथक्करण होकर उन के गुण नष्ट हो जाते हैं तब फिर हवन से नैरोग्य कैसे उत्पन्न होगा ? इस विषय में हमारा प्रथम उत्तर यह है कि सब द्रव्यों में स्वाभाविक और संयोगजन्य दो प्रकार के गुण हैं, उन में स्वाभाविक गुणों का नाश कभी नहीं होता, संयोगजन्य गुणों

के वियोग से रस (घटती) होता है यदि स्वाभाविक गुण पदार्थों में न माने जायँ तो समुदाय में गुण कहां से आवेगा ?

दृष्टान्त—एक तिल्ली के दाने से थोड़ाही तेल निकलता है इस लिये समुदायस्थित बहुत से तिलों का तेल बहुत निकलता है, एक जल परमाणु में शीतता है इस लिये परमाणु समुदायरूप जल का शीतता स्वाभाविक धर्म है, सुगंन्धित पदार्थों का सुगन्धि स्वाभाविक गुण है वह दहन से फैलता है, उसका नाश नहीं होता।

द्वितीय—सुगन्धि जलाने से दुर्गन्धि का नाश होताहै यह प्रत्यक्ष है।

तृतीय—जब हम अर्क निकालते हैं तब जैसा द्रव्य होता है वैसाही तद्गुणविशिष्ट अर्क निकलता है, अब अर्क अर्थात् अस्वादि अतर आदि द्रव्य हैं।

अग्नि परमाणु में जो गुण हैं, वे अग्नि के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होकर मेघमण्डल तक विस्तीर्ण होते हैं और उस से वायु शुद्धि परिणाम होता है।

अब कोई ऐसी शंका करें कि होम एक छोटी सी कृति है इससे ब्रह्माण्डवायु कैसे शुद्ध होगा, समुद्र में एक चम्मच भर कस्तूरी डालने से क्या सारा समुद्र सुगन्धित और शुद्ध होगा ?

इसका समाधान यह है कि सौ बड़े रायते में थोड़ी सी ही बघार से रुचि आ जाती है यह प्रत्यक्ष है, इस की जैसी उपपत्ति समझी जाती है तद्वत् ही यह प्रकार भी है. कोई ऐसी शंका करें कि होम तो यहां करो और अमेरिका में उसका परिणाम कैसे होगा।

इसका समाधान यह है कि वायु द्वारा शुद्धि सर्वत्र फैले–यह वायु का धर्म है, सिवाय–यदि सब लोग अपने २ घर में आर्य सम्मत रीति से हवन करें तो यह शंका ही नहीं सम्भव होती, पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक नियम था कि प्रत्येक पुरुष प्रातःकाल स्नान कर बारह आहुति देता था क्योंकि प्रातःकाल में जो मल मूत्रादिकों की दुर्गन्धि उत्पन्न होती थी वह इस प्रातःकाल के हवन से दूर होती थी, इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमी हुई जो दुर्गन्धि–उसका नाश होकर

रातभर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी, प्राचीन आर्य लोग बड़े ही युक्तिमान् थे इस में किञ्चित् भी सन्देह नहीं है फिर अमावास्या और पौर्णमासी के दिन समस्त भरतखण्ड में होम होता था उस से भरतखण्ड में वायु शुद्धि के कितने साधन उत्पन्न होते थे, इस का विचार करने से यह छोटा ही सा प्रकार है, ऐसा किसी को भी प्रतीत न होगा, अब वायु शुद्ध रहने से वृष्टि का जल भी शुद्ध रहता है वृष्टि से और वायु से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध रहता है और सब देश का जल वृष्टि से उत्पन्न होता है।

जल स्वच्छ और वायु के भी स्वच्छ रहने से वृक्षों के फल, पुष्प, रस ये बड़े ही शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं, उसी तरह अन्नादि सब द्रव्य शुद्ध और पुष्टिकारक होते हैं इसी लिये शरीर को सुख होकर अन्न से बल उत्पन्न होता है, प्राचीन आर्य लोगों के शौर्य का वर्णन इस प्रसंग में करने की कोई आवश्यकता नहीं है, वायु और जल की दुर्गन्धि नष्ट होकर उनमें शुद्धि और पुष्टि वर्धनादि गुण बढ़ने से सब चराचरों को सुख होता है, इसी लिये कहा है कि—

स्वर्गकामो यजेत् । सुखकाम इति शेषः ।
(ऐतरेय० शतपथब्राह्मण)

होम--हवन से परमेश्वर की सेवा कैसे होती है ऐसा यदि कोई कहे तो उसे विचार करना चाहिये कि सेवा का अर्थ प्रिय आचरण है, परमेश्वर की सेवा अर्थात् उसको जो प्रिय वह आचरण करने से वह न्यायकारी होने के कारण उसके द्वारा योग्य प्रत्युपकार होना है ऐसा एक नियम ही है, अब स्वर्ग अर्थात् सुख विशेष अथवा विद्या और नरक अर्थात् दुःख विशेष अथवा अविद्या है, विद्या स्वर्ग प्राप्ति का तथा बुद्धिवर्धन का कारक है, बुद्धिवर्द्धन को शारीरिक दृढ़ता अवश्य चाहिये, और शुद्ध वायु, शुद्ध जल और शुद्धान्न के बिना शरीर-दृढ़ता कैसे प्राप्त होगी ?

होम--हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है उस से शरीर नीरोग और बुद्धि विशद होती हैं, विद्या प्राप्त होती है अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति, सुख प्राप्ति होती है ।

कोई २ ऐसी भी शंका करें कि वायुशुद्धर्थ यदि हवन है तो उस में वेदमन्त्रों के पठन की क्या आवश्यकता

है और होम करने में अमुक ही रीति की ईंटें रख कर अमुक ही प्रकार की वेदी बनावे ऐसी विशेष योजना किस वास्ते चाहिये ?

इस शंका का समाधान यह है कि विशेष योजना के अनुकूल कोई भी बात किये बिना उस से विशेष कार्य नियमित समय पर प्राप्त नहीं होता, इसी तरह कच्ची ईंटों की चार अंगुल गहरी और सोलह अंगुल ऊंची गणित प्रमाण से वेदी बनाकर उस में नियमित प्रमाण का ही मसाला लेकर प्रमाण से घृतादिक का हवन करने से, अल्प व्यय में अतिशय उष्णता उत्पन्न होती है, और उष्णता के कारण वायु शुद्ध होकर जल परमाणु वायु में उड़जाते हैं और इस उष्णता के कारण वायु का घर्षण होकर विद्युत उत्पन्न होती है, और मेघमण्डल में गड़गड़ाहट की आवाज उत्पन्न होती है, इस प्रकार हवन की विशेष योजना के कारण विशेष उष्णता उत्पन्न होकर विशेष वृष्टि उत्पन्न होती है।

अब गड़गड़ाहट अर्थात् इन्द्रवज्रसंघातजन्य शब्द वर्णन किया हुआ है, इस का सच्चा अर्थ यह है कि इन

अर्थात् सूर्य्य और सूर्य्य की उष्णता के कारण विद्युत और मेघगर्जनादि कार्य होते हैं।

कोई २ कहते हैं कि इन्द्र अपने वज्र से बलि को मारता है सो यह बात बिलकुल झूठ है, बलिराजा पाताल में राज्य करता है, और पाताल अमेरिका देश है, सो अब उस अमेरिका में बलिराजा कहां पर है? इसी तरह वेदी की एक आध ईंट यदि टेढ़ी बैठी कि मानो यजमान मरता है इत्यादि कहना भी अप्रशस्त और निर्मूल है, यह सब लीला अर्वाचीन लोगों के मतलबसिन्धु की है, वे कहते हैं कि हम जो कहें उसे बछिया के दाया की नाईं सुनो, शंका मत करो, शंका करते ही तुम नास्तिक बन जाओगे इत्यादि धमकियां धूर्त लोग देते रहते हैं।

अब होम समय में वेद पठन किस लिये है यह पूछा था सो इस का उत्तर यह है कि दो काम यदि एकही समय में हो सकते हों तो उन्हे करना चाहिये, ऐसा उद्देश्य कर २ प्राचीन आर्य लोगों ने हाथों को होमादिक द्रव्यों की व्यवस्था करने में लगाये तब मुँह खाली न रहे, परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना मुँह से होती रहे, इसलिये

पहिले के ऋषि लोग वेदमन्त्र कहते थे, और ब्राह्मण लोगों ने कण्ठस्थ वेद आज तक किया, इसी लिये वेद विद्या भी अबलों बनी रही है, फिर यह भी था कि वेदपाठ करने से परमेश्वर की भक्ति होती थी जिस से विचारशक्ति भी उत्पन्न होती थी।

"त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे [ऋ०सं०

दूसरा ऐसा भी विचार है कि जो हाथों से प्रयोग होता है उसके जो मन्त्र उस समय कहे जाते हैं उन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, इस से मन्त्रोच्चार कर्म के उद्देश्य से नहीं होता किन्तु परमेश्वर की स्तुति मुँह से होती रहे यही प्रधान उद्देश्य है और कोई २ मन्त्र ऐसे भी हैं जिन में होम के लाभ कहे गये हैं, सारांश यह कि वेद मन्त्रों को कहने से वेद की रक्षाही मुख्य प्रयोजन है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड बिल्कुल निस्फल नहीं है—अस्तु। कोई कोई ऐसी शंका करेंगे कि वेदों में बीभत्स कथायें क्यों हैं?

उत्तर—वेदों में तो बीभत्सकथायें कहीं भी नहीं हैं, ऐसी कथायें अर्वाचीन महीधरादि भाष्यकार दिखलाते

हैं, सो यह दोष वेद पर नहीं लग सकता, यह केवल भाष्यकार की वीभत्स बुद्धि का दोष है, दृष्टान्त—जैसे किसी सुवासिनी स्त्री ने किसी विधवा को नमन किया तो विधवा क्या कहती है अर्थात् आशीर्वाद देती है कि 'आओ बहिना मुझसी हो' बस इसी प्रकार मतलबी लोगों ने मनमाना अर्थ वेदों में निकाला है-शतपथब्राह्मण को देखो—

श्रीर्वा राज्यस्याश्वमित्यादि० [शत० ब्राह्मण]

अब कोई ऐसा कहे कि, अश्वमेध में घोड़े के शिश्न का संस्कार यजमान की स्त्री के सम्बन्ध से कहा है, इस से ऐसा प्रकार वेदों में बिलकुल ही उपदिष्ट नहीं है, सो ठीक है परन्तु इस के सम्बन्ध से जो २ वीभत्सकथायें लिखी हैं उन्हें पढ़ते हुये मानों उलटी आती है, तथापि ऐसा वीभत्सपना कभी भी प्रचार में न आया हो यह कहते नहीं बनता, क्योंकि पद्धतिनिरूपक ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट २ मिलती है।

पच्चीस सौ वर्ष के पूर्व बौद्ध लोगों ने जो २ ग्रन्थ

बनाये उन में ऐसी २ बातों का उद्देश्य कर २ ब्राह्मणों की निन्दा की है।

अब कोई ऐसी शंका करें कि अस्तु जो हो, परन्तु बीभत्स कथायें तो भी उन में हैं वा नहीं ?

अश्व को फेरते थे और सार्वभौम राजा लोग इस से क्या शत्रुता उत्पन्न करते थे ?

इस में हमारा समाधान यह है कि शतपथ में लिखा है कि—

अनिर्वा अश्वः। आज्यं मेध। (शतपथब्राह्मण)

अश्वमेध अर्थात् अग्नि में घी डालना-इतनाही अर्थ है, उसी तरह ग्रन्थसाहचर्य की ओर ध्यान देने से हरिश्चन्द्र, सुनःशेफ इत्यादि बातों का निर्वाह होता है।

अवकेनोपनिषद में एक यक्ष की वर्त्ता है, यक्ष ने अग्नि के सन्मुख तृण डाला, और अग्नि से कहा कि इस तिनके को तू जला दे, अग्नि से वह तिनका न जल सका फिर वायु से कहा कि तू इस तिनके को उड़ा लेजा, वायु से भी वह तिनका न उड़सका, ऐसा कहकर जो हमवात लातक ब्रह्मविद्या है उस का माहात्म्य

दर्शाया है, यज्ञ में मांस आदि खाना यह गपोड़ा अर्वाचीन पण्डितों ने निकाला है।

कोई २ व्यभिचार के विषय में भी ऐसी ही कोटियां निकालते हैं, कहते हैं कि क्या इन्द्र के पास मेनकादि अप्सरायें नहीं हैं ? हम नकद रुपया दे बाज़ार में कोई माल मोल लेवें तो इस में दोष क्या है ? तो भाई सोचो कि ये बातें कहना क्या तुम्हें प्रशस्त दीखती हैं ? कभी नहीं।

अस्तु, पुरुषमेध का अब थोड़ा सा विचार करें, यजुर्वेद के इस मन्त्र को देखो—

विश्वानि देवसवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव (य० सं०)

होम तो देवताओं का हो और मांस पशुओं का तथा मनुष्यों का रक्खें तो कहो यह व्यवस्था कैसे ठीक २ है ? ऐसी व्यवस्था परमेश्वर बनावेगा यह हमें तो निश्चय नहीं होता, अर्थात् ऐसी व्यवस्था को अन्याय के सिवाय क्या कहसक्ते हैं।

परमेश्वर की व्यवस्था में ऐसा अन्याय नहीं है, और ऐसी निष्कारण हानि का बर्ताव भी नहीं है, देखो, गौ सदृश परोपकारी ग़रीब पशु को खाने के लिये वा यज्ञ के लिये मारने से कितनी हानि होती है--एक गाय चार सेर दूध देती है, इस दूध को औटकर खीर (क्षीर) पकाने से न्यून से न्यून निदान चार मनुष्यों के लिये तो भी पौष्टिक अन्न होता है, अर्थात् प्रातःकाल सायंकाल दोनों समय का दूध मिलाकर आठ मनुष्यों का पोषण होता है, यदि उस गाय ने दस महीने दूध दिया तो समझ लो कि चौबीस सौ २४०० मनुष्यों का पालन उस गाय के एक बेत में होगा, इस प्रकार आठ औलाद औसत पकड़े तो १९२०० उन्नीस हज़ार दोसौ लोगों का पालन होगा, वही गाय कोई यदि मार कर खा जाय तो पच्चीस तीस मनुष्यों का पालन एक टंक का होता है इस प्रकार युक्ति की रीति से भी मांस भक्षण ठीक नहीं है।

अस्तु, इन दिनों मांसाहारियों ने राज्यबल के आधार से इतना ज़बर हाथ फेरना प्रारंभ किया है कि, चौपाये

बिलकुल न्यून होते जाते हैं, पांच रुपये के बैल के आज-कल पच्चीस रुपये लगने लगे हैं और ग़रीब लोगों को दुग्ध घृत मिलने में बड़ी ही कठिनाई होती जाती है, जिस देश में बिलकुल मांस नहीं खाते उस देश में दूध घी की खूब ही बहुतायत हो रही है अर्थात् वहां पर खूब समृद्धि रहती है।

अस्तु, अबलों तो पशुवध होम में न करने के लिये युक्तियों का तथा शास्त्र का विचार किया, अब इस शंका का विचार करें कि अथवा कभी होम में पशु को मारते थे वा नहीं।

होम दो प्रकार के हैं, एक राजधर्म सम्बन्धी और दूसरा सामाजिक, इतने समय तक सामाजिक होम का निरूपण किया अब राजधर्म सम्बन्धी जो होम है उसकी सब ही व्यवस्था भिन्न है, उस में पशु मारने की तो क्या ही बात है परन्तु कभी २ मनुष्यों को भी मारना पड़ता है, युद्धप्रसंग में हज़ारों मनुष्यों का प्राण लेना यह राजधर्मविहित है, भयंकर श्वापदादि जो खेती को उजाड़ते वा मनुष्यादि को हानि पहुँचाते हैं [illegible]

ही है क्योंकि जंगली पशुओं का विध्वंस करना अत्यावश्यक है, परन्तु सब ही होमों में मांसाहार लाना यह सर्वथैव अयोग्य है, किसी प्राणी को पीड़ा देना—कहो यह धर्मविहित कैसे होगा, और इतने पर भी बेचारों का मुँह बांधकर घूँसे मार २ कर उनका जीव लेना तो ईश्वरप्रणीत व्यवहार कभी भी न होगा।

अब यज्ञ के विषय में किसका अधिकार है ऐसी कोई शंका करे तो जानना चाहिये कि कर्मकाण्ड में जिनकी प्रवृत्ति है उन्हीं को केवल अधिकार है, कर्म से विचारशक्ति थोड़ी २ जाग्रत् होती है, उपासना से विचार में निर्मलता उत्पन्न होती है, फिर ज्ञान में विचार, दृढ़ता और पक्वता आकर फिर वह ज्ञानमार्ग का अधिकारी होता है।

अब हम होम के विषय में छोटी २ शंकाओं का विचार करते हैं।

कोई २ कहते हैं कि जब राजनियम से इन दिनों ग्राम स्वच्छ रहता है तो फिर होम किस लिये करें? उनके प्रति हमारा यह उत्तर है कि हमारे घर स्वच्छ बनाए बिना

ग्राम कैसे स्वच्छ रहेगा ? और ग्राम के बाहर की दुर्गन्धि कैसे दूर होगी ? दूसरी शंका यह करते हैं कि जब आग गाड़ी में (रेल के इंजन में) और रसोई के घर में तो धुआं (धूम्र) बहुत उत्पन्न होता है फिर वृष्टि भी बहुत होना ही चाहिये, तो फिर होम किस वास्ते करना चाहिये ?

इसपर हमारा यह कहना है कि यह धूम्र दुर्गन्ध और दूषित रहता है इस से वायु शुद्ध नहीं होता ।

इन दिनों होम के न्यून होने से बारम्बार वायु बिगड़ रही है, सदा विलक्षण रोग उत्पन्न होते जाते हैं ।

अब तक यज्ञ का विचार हुआ अब थोड़ासा संस्कारों का भी विचार करें ।

२ भाग-संस्कार ।

संस्कार कहते किसे हैं ? इस प्रश्न का प्रथम विचार करना चाहिये ।

किसी द्रव्य को उत्तम स्थिति में लाना इस का नाम संस्कार है, इस प्रकार का स्थित्यन्तर मानवीय प्राणियों

पर होवे एतदर्थ आर्य लोगों ने सोलह संस्कारों की योजना की है, परन्तु उन प्राचीन आर्यों की इस से यह इच्छा न थी कि संस्कारों के कारण पेटार्थू पत्रा-पांडे हमारा माल उड़ावें, और आलसी बनें क्योंकि वे आचार्य आर्य महाजन थे, तो फिर वे--अनार्य अर्थात् अनाड़ियों की समझ में क्योंकर मदद देते।

निषेक अर्थात् ऋतुप्रदान यह प्रथम संस्कार है, पिता निषेध करता है इस लिये पिताही मुख्य गुरु है।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥१॥
(मनु०)

ऐसा मनु में वाक्य है, पिताही को सब उपदेश और संस्कार करने चाहिये, पुंसवन का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद में किया है, उस स्थल पर गर्भधारण करने वाली स्त्रियों को क्या २ पदार्थ खाने चाहिये जिस से पुत्र के शरीर और बुद्धि में दृढ़ता आती है यह मुख्य कर विचार किया है, प्राचीन काल के आर्य लोग केवल अमोघवीर्य

थे और स्त्रियों में भी पूर्ण वय होने के कारण वीर्यार्कर्षता रहती थी, पुत्रेष्टि—यह गृहस्थाश्रम का प्रथम धर्म है।

२ पुंसवन--इस संस्कार का प्रयोजन वीर्य को पुनः शरीर में किस प्रकार जमावे इस योजना के सम्बन्ध से है, वीर्य में सदा स्थिरता, दृढ़ता और नैरोग्य गुण रहने चाहिये अन्यथा विकृत वीर्य से सन्तति में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, एतदर्थ सूत्रकारों ने औषधियां बतलाई हैं, वीर्य शुद्धयर्थ और शान्त्यर्थ वर्ष भर (सालभर तक) पुरुषों को ब्रह्मचर्य रखना चाहिये ऐसा भी निर्बन्ध किया हुआ है।

३ सीमन्तोन्नयन--स्त्रियों को अकाल में गर्भपात होने की बड़ी भीति रहती है सो वह न हो और निरोगी, पुष्ट पदार्थों के सेवन से और मन के उत्साह रहने से गर्भ की स्थिति उत्तम रहे एतदर्थ इस संस्कार की योजना है।

४ जातकर्म--इस संस्कार के विषय में विशेष होम

करना कहा है, कारण कि सूतिकागृह का (जच्चाके घरका) अमंगलपना दूर करने के लिये सुगन्धिवर्धक होम करना योग्य है, बच्चे को नाभि काटने से दुःख न हो, जच्चा सुखी रहे इस प्रकार इस संस्कार का उद्देश्य है।

५ नामकरण—नाम रखने में भी कोई भूल न करे यहां तक प्राचीन आर्य लोगों की बारीक दृष्टि थी, नाम का मुख से उच्चारण हो, उस में मधुरता रहे, इस लिये दो अक्षर वाला वा चार अक्षर वाला नाम होवे ऐसा कहा है, योंही व्यर्थ लम्बा चौड़ा नाम न होवे, नहीं तो कभी २ इन दिनों लोग मधुरादास, गोपचन्द, सेवकदास ऐसे लम्बे चौड़े नाम रख कर गड़बड़ मचाते हैं, कभी २ कौड़ीमल, वा भिकारीमल, घोंड्या, पथरया आदि विलक्षण नाम रखते हैं, इन दिनों सब प्रकार पागलपना फैल रहा है, फिर नाम रखने में दोष हो तो आश्चर्य क्या है ? दोष देने में कुछ भी उपयोग नहीं, स्त्रियों के नामों में भी मधुरपना होना चाहिये जैसे भामा, अनसूया, सीता, कोपद्रुमा, यशोदा, सुखदा ऐसे २ प्राचीन आर्य लोगों की स्त्रियों के नाम होते थे।

६ निष्क्रमण--कोमलशरीरके बच्चों को बाहर हवा खाने के लिये ले जाना, यही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है।

७ अन्नप्राशन--योग्य समय में बच्चे को अन्नप्राशनादि यदि प्रारम्भ न करें तो बड़ाही दुःख होता है। इस लिये इस संस्कार की योजना है।

८ चूड़ाकर्म--मस्तक में उष्णता उत्पन्न न हो और उष्ण वायु में पसीने आदि के कारण मैल जमता है वह दूर होवे, इसलिये इस संस्कार की योजना की है।

९ व्रतबन्ध--(यज्ञोपवीत) पुरुषों को विद्यारम्भके समय उत्साह हो इस उद्देश्य से व्रतबन्ध विषय में विशेष नियम ठहराये हैं अर्थात् बनाये हैं, स्त्रियों को भी विद्यासम्पादन का अधिकार पहिले था और उसके अनुकूल उनका भी व्रतबन्ध संस्कार पूर्व में करते थे, विद्वान अर्थात् ब्राह्मण लोग, आर्यकुलोत्पन्न बालक को विद्यारम्भ के समय कार्पास का अर्थात् रुई का यज्ञोपवीत विशेष चिन्ह जान धारण करने को देते थे, इस के धारण करने

में बड़ीही जवाबदारी रहती थी, क्षत्रिय वैश्यादिकों के बालकों को भी कार्पास का तो नहीं, किंतु दूसरे पदार्थों का यज्ञोपवीत धारण करने के लिये देते थे, यदि ठीक २ विद्यासम्पादन न हुई तो चाहे ब्राह्मण ही कुल में उत्पन्न हुआ तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता और उसकी अप्रतिष्ठा होती, उसी तरह शूद्रादिक भी उत्तम विद्यासम्पादन कर कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे, इस प्रकार की व्यवस्था प्राचीन आर्य लोगों ने कर रक्खी थी, इस कारण सब जाति के पुरुषों को और स्त्रियों को विद्यासंपादन करनेके विषय में उत्साह बढ़ता रहता था, विद्या के अधिकारानुसार उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ ऐसे यज्ञोपवीत के भूषण सबों को धारण करने को मिलते रहते थे।

१०।११ तदनन्तर **वेदारम्भ** और ग्यारहवां **वेदाध्ययनसमाप्ति** अर्थात् समावर्तन ऐसे दो संस्कार हैं।

१२ **विवाह**--इस संस्कार का—आगे जब इतिहास विषय में व्याख्यान देंगे उस समय विचार करेंगे, इन दिनों

मुहूर्तादिक के विषय में जो आडम्बर मचा रक्खा है यह केवल बलात्कार (ज़बरदस्ती) है।

व्यर्थ ही कालक्षेप न हो और नियमित समय पर सब वार्त्ता हो इस लिये कालनियम के विषय में ध्यान देना अत्यावश्यक है, परन्तु उसी के शास्त्रार्थ में व्यर्थ टांय २ करना अनुचित है, इसी प्रकार पहिले आर्य लोग स्वयम्वर करते थे, एक नाड़ी आई और मनु भगण आ घुसा और अमुक ग्रह नहीं मिला और फलानी राशि टेढ़ी हुई इत्यादि गपोड़े उन दिनों में नहीं थे।

१३ गार्हपत्य--गृहस्थाश्रम में पंचमहायज्ञ करने पड़ते हैं इसका विचार भी आगे इतिहास विषय में व्याख्यान देते समय करेंगे।

१४ वानप्रस्थ--पुत्र का बेटा होते ही गृहस्थाश्रम में वास करनेवाला गृहस्थी वानप्रस्थाश्रम धारण करे ऐसी योजना थी, वानप्रस्थाश्रम में धर्माधर्म और सत्यासत्य के विषय में निर्णय होता रहता था, क्योंकि विचार के लिये समय मिले और गुण दोष का निर्णय करने में आवे इस लिये वानप्रस्थाश्रम की योजना की है।

१५ संन्यास--धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जग-हित करने में आवे इस लिये यह आश्रम है।

१६ अन्त्येष्टि-आश्वलायनसूत्र में इस संस्कार का वर्णन किया है, आज कल हमारे देश में अन्त्येष्टि के तीन प्रकार जारी हैं, कोई तो जलाते हैं वा कोई जंगल में डाल आते हैं और तीसरे जल समाधि देते हैं।

प्राचीन आर्य लोगों में अन्त्येष्टि यज्ञ है, उसमें दहन प्रकार मुख्य है, अब मुर्दे को गाड़नेवाले ऐसी शंका करें कि जलाना बड़ी निष्ठुरता है, परन्तु मुसलमान आदिकों को विचार करना चाहिये कि मुर्दे को जमीन में गाड़ने से रोग की उत्पत्ति होती है।

कोई २ ऐसी भी शंका करेगा कि जल में देह डालने से मच्छियां उसे खाती हैं तो क्या यह परोपकार नहीं है? परन्तु जल बिगड़ता है इस का भी तो विचार करना चाहिये, गंगा सदृश महा नदियों में प्रेतों को डालने से जल में विकार उत्पन्न होता है तो फिर छोटी मोटी नदियों की तो कथा क्या है, अब गंगा में हड्डियां ले जाकर बहुत से

लोग डालते हैं तो बतलाओ यह कितना भारी भोजापन है ? मरे हुये प्राणी की देह मृत्तिका है, उसे गंगा में डालने से क्या लाभ होगा ? वन में फेंकने से भी दुर्गन्धि उत्पन्न होकर रोग उत्पन्न होता है इसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस से प्राचीन आर्यलोगों ने दहनविधि ही को मुख्य माना है और यही ठीक है, वे श्मशानभूमि में एक वेदी बनाया करते और उसे पक्की ईंटों से बांधते और फिर उस में मृत देह को जलाते समय बीस सेर घृत डालकर चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ भी डालते थे, शुक्ल यजुर्वेद के ३५ वें अध्याय में इस विषय का वर्णन किया है।

आज कल अन्त्येष्टि संस्कार यथाविधि नहीं होता नाममात्र होता है, अलबत्ता कट्टरताओं की चैन उड़ती है, सो यह ज़बरदस्ती है, सबों को उचित कि फिर संस्कारों को सुधारें जिस से कल्याण हो।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

आठवां व्याख्यान ।

इतिहास विषयक ।

ओम् यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयन्नः पशुभ्यः ॥ १ ॥

(य० सं० अ० ३६ मं० २२)

इतिहास—यह आज के व्याख्यान का विषय है ।

क्रम २ से यह व्याख्यान होना चाहिये, इतिहास अर्थात् "इतिहासो नाम वृत्तम्" इति वृत्त अर्थात् अतीतवर्णन को इतिहास कहते हैं, इतिहास जगदुत्पत्ति से प्रारम्भ होकर आज के समय तक चला आता है, जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध से दो एक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है, जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और किसने उत्पन्न किया ?

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो

नो व्योमापरोयत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्म्म
अम्भः किमासीद्गहनंगभीरम् ॥ १ ॥

(ऋ० अ० ८ अ० ७ व० १७)

मूल में प्रकृति भी नहीं थी और न कार्य ही था, उत्पत्ति, स्थिति, लयादि को कार्य कहते हैं, सत् अर्थात् प्रकृति का वर्णन सांख्यशास्त्र में किया है, उस शास्त्र में सत्व, रज, तमोगुण की जो समावस्था है वही प्रकृति है ऐसा माना है, सांख्य सूत्र देखो—

प्रकृति से आगे उत्पत्ति कैसे हुई इस विषय में सांख्य शास्त्र का सूत्र नीचे लिखे अनुसार है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृते-
र्महान्महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्यु-
भ यमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि
पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ १ ॥

(सां० अ० १ सू० ६१)

मूल में प्रकृति नहीं थी तब सृष्टि का कार्य कैसे हुआ

इस विषय में यदि संशय कोई करे तो उसके लिये एक दृष्टान्त है सो पढ़ो—

भूमि पर ओस पड़कर घास पर वृक्ष की पत्तियोंपर उस के बिन्दु बन जाते हैं, इससे यह ओस पृथ्वी का आवरण नहीं होता, इसी तरह पहिले किसी प्रकार का भी आवरण नहीं था। ईश्वर की इच्छा होकर उसने सृष्टि उत्पन्न की, ऐसा भी कोई २ कहते हैं और उसमें निम्न वचन का प्रमाण देते हैं।

तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति ॥ (तैत्तिरीयोपनि० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० ६)

परन्तु इस वचन से इच्छा के प्रकार का बोध नहीं होता क्योंकि ईक्ष शब्द का उपयोग किया है, इस धातु का अर्थ दर्शन और अंकन है, परन्तु इच्छा अर्थ नहीं है, ईश्वर को इच्छा हुई यह बात सम्भव नहीं होती, इच्छा होने के लिये किसी भी वार्त्ता की अप्राप्ति होनी चाहिये, सो ईश्वर को सृष्टि में कौनसी वस्तु अप्राप्त है ? अर्थात् कोई भी अप्राप्त नहीं, फिर इच्छा करनेवाले को देश,

काल, वस्तु, परिच्छेद होते हैं यह बात भी ईश्वर में नहीं सम्भव होती, इस लिये ईश्वर की इच्छामात्र से सृष्टि उत्पन्न हुई ऐसा कहना अयोग्य है।

मूल में प्रकृति हुई और प्रकृति से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥ ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥ सुर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥ दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

(ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४८)

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्यो

ऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥

(तै० आर० ब्रह्मानन्दवल्ली अनु० १)

आकाश विभु होने से सब पदार्थों का अधिकरण है, और उस से भी विभु और अतिसूक्ष्म परमात्मा है, आकाश ईश्वर ने उत्पन्न किया।

आकाशस्तल्लिंगात् ॥ (व्याससूत्रम्)

ओं खं ब्रह्म (य० सं०)

आकाश और परमात्मा का आधाराधेय सम्बन्ध है, अव्यक्त प्रकृति की जो अव्यक्त स्थिति उसी को आकाश कहना चाहिये, अब कोई ऐसी शंका करें कि ईश्वर को जगत् उत्पन्न करने का क्या प्रयोजन था ?

इस शंका का विचार करते समय प्रथम प्रयोजन शब्द का सच्चा अर्थ क्या है ? यह देखना चाहिये, जिस प्रकार की ईर्षा जगत् में दिखाई देती है उस प्रकार की ईर्षा ईश्वर में सम्भव नहीं होती, इस लिये—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् ॥

(गौतमसूत्रम्)

यह प्रयोजन शब्द का अर्थ यहां सम्भव नहीं होता, क्षुधानिवृत्ति के लिये पाकसिद्धि करनी पड़ती है, इस में क्षुधानिवृत्ति यही प्रयोजन है, अब ईश्वर से कोई भी पदार्थ बड़ा नहीं है और न बिलकुल ईश्वर को प्रवृत्त करने वालाही कोई पदार्थ है, इस लिये ईश्वर के काम में उपर्युक्त अर्थ का प्रयोजन भी नहीं सम्भव होता, दूसरा एक ऐसा भी विचार है कि ऊपर लिखे अनुसार जो शंका करे उससे हम यह पूंछते हैं कि भाई ! सृष्टि न उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? यदि तुम से सृष्टि उत्पन्न न करने का प्रयोजन नहीं कहते बनता, तो हम भी सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयोजन नहीं कहते, फिर तुम्हारी हमारी बराबरी तो अवश्य ही हुई परन्तु ऐसा नहीं है; सृष्टि उत्पन्न करने का कारण ऐसा है कि ईश्वर का सामर्थ्य निष्फल न जावे, ईश्वर की शक्ति प्रकट न हो अर्थात यदि उस ने जगत उत्पन्न न किया तो फिर

ईश्वर के बीच वह शक्ति रहने पर भी उसका क्या उपयोग वा लाभ है ? ईश्वर का सर्वशक्तिमत्व निष्फलहोगा, सर्वशक्ति इस शब्द में रचना, धारणा, दया इत्यादि गुणों का समावेश होता है इस लिये सृष्टि उत्पत्ति विषय में शक्तिसाफल्य होना यही प्रयोजन है, कि कोई २ कहते हैं कि ईश्वर ने यह जगत् लीला से उत्पन्न किया, उस में जगदुत्पत्ति का प्रयोजन लीला है, परन्तु यह कहना सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि ईश्वर यदि प्रसन्न अर्थात् सुखानुभव लेनेवाला होगा तो उसमें अप्रसन्नता अर्थात् दुःख की भी सम्भावना होगी, इस लिये सृष्टि उत्पत्ति का कारण ईश्वर लीला है ऐसा जो लोग कहते हैं वह कहना त्याज्य है, कोई २ ऐसी भी शंका करते हैं कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ वा वृक्ष पैदा हुआ ? सो इसका उत्तर सुनो।

यदि ऐसा कहें कि प्रथम बीज उत्पन्न हुआ तो वृक्ष के विना बीज कहां से आपड़ा ? इस प्रकार का झगड़ा आपड़ता है, भला प्रथम वृक्ष ही को कहें तो भी बीज के विना वृक्ष कैसे हुआ ? इधर भी झगड़ा आपड़ता

है, इस प्रकार "उभयतः (दोनों ओर से) पाशा रज्जुः" प्रसंग प्राप्त हुआ, वह प्रसंग न आवे इस लिये हम ऐसा कहते हैं कि प्रथम बीज ही आया क्योंकि सब जगत् का बीज ईश्वर ही है, वहां से सब उत्पन्न हुये, अस्तु—पतिव्रता का एक बड़ा हास्यजनक दृष्टान्त है, अपनी उपास्य देवता के पास किसी पतिव्रता ने यह वरदान मांगा कि मेरा जो पति अभी है वही अगले जन्म में फिर मेरा पति होवे, तब उस देवता ने उसको वैसा ही वर दिया, फिर आगे वह पति मुक्त होगया अर्थात् जन्म मरण से छूट गया, तो बताओ अब ऐसे प्रसंग में देवता के वरदान की सफलता कैसे होनी चाहिये ? इस प्रकार की शंका कर नाना प्रकार के तर्क लोग करते हैं, उनके प्रति इतनाही उत्तर है कि मुक्त जो पुण्यात्मा पति उसके सत्संग से उसकी पतिव्रता स्त्री मुक्त होगी फिर देवता आदि के वरदान होने का बिलकुल ही प्रयोजन शेष नहीं रहेगा, सारांश—ऐसे उलटे सीधे दृष्टान्त में या भाषण में न पड़कर शान्तरीति से विचार करना यह हमारा धर्म है, अस्तु—अव्यक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु उत्पन्न हुआ,

वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ, अग्नि से जल उत्पन्न हुआ, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई, यह सब व्यवस्था परमाणुओं में हुई एक परमाणु का अणुक होता है, तीन अणुक का एक त्रसरेणु होता है, त्रसरेणु का लक्षण ऐसा किया है।

जालान्तरगते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥१॥ मनुः

यह उत्पत्तिकाल की व्यवस्था हुई, आगे प्रलयकाल में त्रसरेणु का द्व्यणुक होता है, द्व्यणुक के अणु होते हैं, और अणु के परमाणु होते हैं यह प्रलयव्यवस्था है अब ईश्वर सामर्थ्य ही उत्पत्ति की सामग्री है, ईश्वर सामर्थ्य ही जगत् का उपादान कारण है, यह ईश्वर के साथ सनातन सृष्टिउत्पत्ति के पूर्व से है।

यह सामर्थ्य प्रकट हुआ तब ही सृष्टि हुई और ईश्वर में इस का लय होने से प्रलय होता है, अत्यन्त प्रलय अब तक नहीं हुआ, वायु तक भी प्रलय नहीं हुआ, जल प्रलय हुये हैं, अग्नि तक प्रलय हुआ है, (छांदोग्यउपनिषद्) (ऐतरेय उपनिषद्)।

तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत् तदपोऽसृजत् तदन्न-मसृजत् (छांदोग्यउपनिषद्) तदैक्षत तदपोऽसृजत् तदन्नमसृजत् (ऐतरेयउप०)

पञ्चमहाभूत अनन्त परमाणुओं का संचय होकर उत्पन्न हुये, उसी प्रकार उद्भिजसृष्टि और जीवसृष्टि के असंख्य बीज हैं, यह भी ईश्वरशक्ति है, उसी तरह एकजातीय विजातीय परमाणु हैं, एक बीज में अनन्त बीज उत्पन्न करने की शक्ति है, औषधि से अन्न होता है, अन्न से रेत उत्पन्न होता है और रेत से शरीर उत्पन्न होता है, अब कोई ऐसी शंका करे कि रेत किस लिये चाहिये सब पदार्थ एकमात्र अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो उस में क्या हानि है ? इस का उत्तर यह है कि जीवसृष्टि में मैथुनी सृष्टि का भाग है तो उस में केवल अन्नग्रहण से ही नई उत्पत्ति नहीं होती, रेत सिञ्चन की भी आवश्यकता होती है।

तपसोऽध्यजायत ।

विधाता ने सृष्टि कैसे उत्पन्न की इस विषय में वर्णन है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥
दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥१॥ [ऋ०]

'यथापूर्व' कहने से कल्पकल्पान्तर में सृष्टिभेद है ऐसा कहना बिलकुल अयोग्य है और 'यथापूर्व' शब्द से जैसा उस के ज्ञान में था वैसा ही उसने यह विश्व रचा, ऐसा भी बोध होता है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः।
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ॥

अर्थात् उस के अनेक सामर्थ्य के कारण सृष्टि उत्पन्न हुई।

ततो राज्यजायत।

इन सब बातों का विचार सत्यार्थप्रकाश और पञ्चमहायज्ञ आदि पुस्तकों में भली भांति किया गया है।

यदि ईश्वर ने यथापूर्व जगत् उत्पन्न नहीं किया ऐसा कहें तो क्या नवीन जगत् उत्पन्न करते समय उस ने पुरानी भूलों को सुधारा है ? अथवा जो उसे विदित न थीं क्या ऐसी बातों को उसमें डाला है ? कभी नहीं,

इस स्थल पर तर्क का अप्रतिष्ठान उत्पन्न होता है और अनवस्था प्रसंग भी आता है और फिर ईश्वर की सर्वज्ञता में दोष आकर पूर्वानवस्था उत्तरानवस्था का प्रसंग आताहै।

सर्वों के पश्चात् मनुष्यप्राणी उत्पन्न किया गया, वे मनुष्य बहुत से थे, अन्यान्य मतों में तो दो ही मनुष्य थे ऐसा मानते हैं सो ठीक नहीं है, इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का इतिहास हो चुका।

अब मनुष्य सृष्टि होने पर मनुष्यजाति का इतिहास प्रारम्भ करना चाहिये।

अनेक देशों के अनेक लोगों में प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थकार होचुके हैं, उन सब ग्रन्थकारों का प्राचीन होने के कारण हमें मान्य करने के लिये कहना कितनी अयोग्य बातहै, हमें सत्यासत्य निर्णय करना आताहै, कहीं उन लोगों के पुस्तकों में यह कहा हो कि मनुष्यों को मारकर चोरी करना चाहिये तो क्या वह ग्रन्थ प्राचीन है, इस लिये उसकी सब बातें मानना चाहिये ? कभी नहीं,

व्यर्थ ही पुरानी पुस्तकों का नाम रखकर दाम्भिक मतका माहात्म्य बढ़ाना, इस उद्योग को क्या कहना चाहिये ?

अथ (अभिद्धं बहिरंगमन्तरंगे) इस न्याय के अनुकूल अनेक दूसरे देशों का इतिहास छोड़कर अपनेही देश का इतिहास कहना योग्य है, प्रथम पुरुष जाति हिमालय के किसी प्रान्त में निर्माण हुई ऐसा माननेसे प्राचीन आर्य ग्रन्थों की परदेशस्थ लोगों के ग्रन्थों के मतों साथ एक वाक्यता होती है, और प्राचीन आर्यलोगों के ब्राह्मणादि ग्रन्थों में कहाहै।

सर्वेषांतु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे १ ॥

इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की वह सर्वत्र प्रचलित है उदाहरणार्थ सब जगत् में सातही वार हैं, बारह ही महीने हैं और बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखो, अनेक भिन्न २ भाषायें कैसे उत्पन्न हुई इसका विचार करना अत्यावश्यक है इस सम्बन्ध से यहूदी लोगों में एक

ऐसी कहानी है कि उनके पूर्वज स्वर्ग इतना ऊँचा ? बुर्ज बनारहे थे इससे ईश्वर उन पर अप्रसन्न हुआ और उसने उनकी बोली में गड़बड़ मचा दी बस इसीसे जगत् में अनेक भाषाएं उत्पन्न हुई, सो यह कल्पना बिलकुल अप्रशस्त है।

देश, काल, भेद, आलस्य, प्रमाद के कारण एक मूल भाषा से व्यवहार में भेद पड़कर भिन्न भिन्न भाषाएं उत्पन्न हुई।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोतितस्मै०

वेदाध्ययन और अध्यापन, इन दोनों कामों में ब्रह्मा आदि ब्राह्मण आदि आचार्य और आदि गुरु हैं, उसका पुत्र विराट और उससे परम्परा से स्वायम्भुव मनु तक वेद का उपदेश किस प्रकार हुआ, यह सब व्यवस्था मनुस्मृति में कही हुई है।

मनुष्य सृष्टि उत्पन्न होने पर एक मनुष्य जाति ही थी पश्चात् आर्य और दस्यु ये भेद हुये।

"विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो"

(ऋग्वेदसंहिता)

अर्थात् ऊपर कहे आर्य और दस्यु, आर्य शब्द से विद्वान् लोग और दस्यु कहने से दुष्टों का बोध होता है, फिर आर्यों में गुण कर्मानुसार चार वर्ण हुये, ब्राह्मण अर्थात् पूर्ण विद्वान्, क्षत्रिय अर्थात् मध्यम विद्याधिकारी, वैश्य अर्थात् कनिष्ठ विद्याधिकारी, और शूद्र अर्थात् अविद्याका स्थानही समझना चाहिये।

ब्राह्मणादिकों का याजन अध्ययनादि मुख्य धर्म है, वैश्यों का कृषिकर्म व्यापारादि, शूद्रों का सेवादि कर्म है, उसी तरह राजधर्म युद्धधर्म ये क्षत्रियों के कर्म धर्म हैं, इस प्रकार चार वर्ण हुये, इसके आगे चार आश्रम हुये, इन चारों आश्रमों का विचार अन्य प्रसंग में होचुका है, अब मनुजी का धर्मशास्त्र कौन सी स्थिति में है इसका विचार करना चाहिये, जैसे ग्वाल लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वाले को फँसाते हैं, उसी प्रकार मानवधर्मशास्त्र की अवस्था हुई है, उसमें बहुत से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे असल में

भगवान मनु के नहीं हैं, यदि कोई कहे कि यह कैसे ? तो इस का प्रमाण यह है कि, एक दर (कुल) इन श्लोकों को मनुस्मृति की पद्धति से मिला कर देखने से ये श्लोक सर्वथैव अयुक्त दीखते हैं, मनु सदृश श्रेष्ठ पुरुष के ग्रन्थ में अपने स्वार्थ-साधन के लिये चाहे जैसे वचनों को डालना बिलकुल नीचता दिखलाना है, अनुभूति स्वामी नाम कर के कोई महान् पण्डित था उसके मुँह से 'पुंस' इस प्रयोग के स्थान में 'पुंक्षु' ऐसा अशुद्ध प्रयोग निकला अब उसी की उपपत्ति कर कर पण्डित लोग दिखाते हैं कि वह शुद्ध ही है, मूढ़ लोगों की रीति कुछ २ कव्वे के सदृश है, कव्वे को किसी जानवर के व्रण झट दिखाई देते हैं परन्तु उन्हीं जानवरों के शुद्ध भाग नहीं दीखते, अशुद्धियां झट दिखलाई देने लगती हैं, हमारे पंडित भाइयों का स्वभाव इन दिनों बहुत बिगड़ गया है।

आग्रहेणारम्भः कार्याच्छेषं कोपेन पूरयेत् ॥

किसी ने शास्त्र शब्द का उपयोग किया तो झट प्रथम ही पूछने लगजाते हैं कि "शास्त्रस्यको ऽर्थः" ऐसे ऐसे प्रश्न पूछकर वितण्डावाद करने को उनको बड़ी ही हौस होती

है, परन्तु वितण्डावादी को कोई वितण्डावादी ही मिले तो वह सहजही प्रश्न निकालेगा कि "शकारस्य कोऽर्थः" "सकारस्य कोऽर्थः" "अनुस्वारस्य कोऽर्थः" और इस प्रकार फिर वही वितण्डा होगा इत्यादि, सो भाई वितण्डावाद छोड़ करके शान्तवृत्ति धारण कर वाद करें यह हमें योग्य है। भगवान् पतञ्जलिजी ने महाभाष्य में कहा है कि जो दौड़ेगा सो गिरेगा, उसमें कुछ दोष नहीं।

'धावतःस्खलनं न दोषाय भवति' महा०

इस वचन के आधार से हमारे बोलने में कुछ प्रमाद अथवा अशुद्ध प्रयोग निकल आवे तो पण्डितों को उस का विषाद न मानना चाहिये—हम सर्वज्ञ नहीं और सब बातें हमें उपस्थित भी नहीं, हमारे बोलने में अनन्त दोष होते होंगे इसका हमें ज्ञान भी नहीं है, दोष बतलाने पर हम स्वीकार करेंगे, सत्य की छानबीन होनी चाहिये वितण्डा न होनी चाहिये, यही हमारी बुद्धि में आता है, गुणलेश होने पर लेलेवे और दोष की क्षमा होनी चाहिये, शान्तता अर्थात् शम, दम, तप ये ब्राह्मणों के मुख्य गुण हैं, और जिनमें ये गुण होंगे निस्सन्देह वे ही ब्राह्मण

हैं, ब्राह्मणों का काम अध्यापन है, उसी तरह उनकी जीविका अध्यापन, याजनादिकों की दक्षिणा से होती है, व्यर्थ प्रतिग्रह लेना अप्रशस्त ही है।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेनते प्रेत्यपशुतां व्रजंत्यन्नादिदायिनाम् ॥मनुः

शम--अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन, दमन—जितेन्द्रियत्व, तप विध्यानुष्ठान, दोनों प्रकार का शौच, शारीरिक और मानसिक शांति, नम्रता अर्थात् अनाग्रह, ये धर्म जब ब्राह्मणों में होते हैं तब उन में गाम्भीर्य रहता है, और कच्चे ब्राह्मण अर्थात् अब्राह्मणों में ब्राह्मण्य का बड़ा ही घमंड रहता है सो ठीक ही है—किसी धनिकको दरिद्री कहने से उसे क्रोध नहीं आता परन्तु दरिद्री को दरिद्री कहने से बहुत ही क्रोध आता है, पाप रहित अन्तःकरण की वृत्तियों के अनुकूल मनुष्यों की बोलने की रीति होती है।

आज कल के साम्प्रदायिक साधु परमेश्वर का नामोच्चारण करते समय अपनी वृत्तियों के अनुकूल उस नाम में जोड़ लगाते हैं।

उदाहरणार्थ जैसे ब्राह्मण साधु हो तो यह कहता है कि—

'राम नाम लड्डवा गोपाल नाम घी'

क्षत्रिय साधु हो तो वह कहता है कि—

'रामनाम की ढाल बनाकर कृष्ण कटारा बांध लिया।

यदि साधु जी कोई बनिये हुये तो यों कहते हैं कि—

'राम मेरा बानियां समझ करे व्योपार'

शूद्र साधु हो तो वह यों कहने लग जाता है कि—

'हरिको भजे सो हरिका होय, जात पांत पूछे ना कोय'

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
न कथंचिद्योनिः प्रकृतिस्त्वां नियच्छति॥ मनुः

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म सब ग्रन्थों में ज्ञानप्राप्ति करना ही कहा है; ज्ञान अर्थात् निर्णय, ज्ञान से विज्ञान प्राप्त करना यह भी ब्राह्मणों का श्रेष्ठ धर्म है, विज्ञान दृढ़ निश्चय को कहते हैं, अस्तु—ये गुण जब हम ब्राह्मणों में उत्पन्न होंगे तब ही यह देश सहज ही में वैभव को प्राप्त होगा, इस में संशय नहीं है, मनुजी के प्रथम अध्याय को

देखो, उस में क्षत्रियों के धर्म का वर्णन किया हुआ है। क्षत्रियों का धर्म, शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें जय, दान, ईश्वरभाव अर्थात् आज्ञा देना और प्रजा की ओर से यथार्थ अनुवर्त्तन करवाना है, यथार्थ प्रजा का रक्षण करने से देश में इज्या, अध्ययन, दान ये कर्म उत्पन्न होते हैं, वनियों का धर्म पशुओं का पालन, दान, इज्या, ले लेना और खेती करना है। इस प्रकार की मनुष्यों में गुणकर्मानुरूप व्यवस्था स्वायम्भुव मनु के समय तक यथा-तथा चलती रही, मनुके दस पुत्र

मरीचिरत्र्यंगिरसौ पुलस्त्यंपुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठञ्चभृगुं नारदमेव च ॥३५॥
एते मनुंस्तुसप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः॥३६॥

स्वायंभुव मनु का बेटा मरीचि यह प्रथम क्षत्रिय राजा हुआ, इस के पश्चात् हिमालय के प्रदेश में छः क्षत्रिय राजाओं की परम्परा हुई, अनन्तर इक्ष्वाकु राजा राज्य करने लगा, कलाकौशल्य की व्यवस्था करने वाला

विश्वकर्मा नामक एक पुरुष हुआ, विश्वकर्मा परमेश्वर का भी नाम है और एक शिल्पकार का भी था, अस्तु-विश्वकर्मा ने विमान की युक्ति निकाली फिर इस विमान में बैठ कर आर्यलोग इधर उधर भ्रमण करने लगे, ब्रह्मदेव का पुत्र विराट उस के पुत्र विष्णु सोमसद् थे और अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव था, ये ही विष्णु और महादेव आगे जाकर ब्रह्मा के साथ त्रिमूर्त्ति में मुख्य देवता करके प्रसिद्ध हुये। मंद, सुगंध और शीतल वायु जहां चलरही है और रमणीय वनस्पतियां जहां उगी हैं और जहां पर स्फटिक के सदृश निर्मल झर्झरोदक बहरहा है, ऐसे हिमालय की ऊंची चोटी पर विष्णु वास करने लगा उसी को वैकुण्ठ भी कहते थे, फिर दूसरे हिमाच्छादित भयंकर ऊंचे प्रदेश में महादेव वास करने लगा उसे कैलास कहते थे, इस के आगे विष्णु और महादेव ये कुलों के नाम पड़गये, ऊपर लिखे हुये विष्णु और महादेव आज तिथितक जीते हैं यह कहना ठीक नहीं किन्तु अत्यन्त भोलापन है, इस में दृष्टान्त इतनाही है कि मैथिल देश के जनकपुर के राजा को अभी तक जनकही कहते

है, इससे सीता जी का पिता जनक राजा अब तक ज़िंदा है यह कहना बिलकुल अप्रशस्त है, यही प्रकार ब्रह्मा जी के विषय में भी लग सक्ता है, आर्यावर्त में लोकसंख्या बहुत हुई उसे न्यून करनी चाहिये इस लिये आर्यलोग अपने साथ मूर्ख शूद्रादि अनार्य लोगों को लेकर विमान उड़ाते फिरते जहां कहीं सुन्दर प्रदेश देखा कि झट वहीं उतर बस जाते, इस प्रकार सब जगत् के प्रत्येक देश में मनुष्य फैले, इसी समय में राजा इक्ष्वाकु ने विद्वान् लोगों को अपने साथ लेकर इस भरतखण्ड में प्रथम बसाहत की, आर्यावर्त देश कहने से पश्चिम में सरस्वती अर्थात् सिन्धु नदी और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा अथवा दृषद्वती, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याद्रि आदि के बीच का जो प्रदेश है उसी को आर्य्यावर्त कहते हैं, यह आर्य्यावर्त कितना सुन्दर है कितना सुपीक (ज़रख़ेज़) है ? और जल वायु भी यहां का कितना उत्कृष्ट है ? इस में छहों ऋतु क्रम से आते रहते हैं ।

देव अर्थात् विद्वान् ये हैं उन्हीं के कारण देव नदी ऐसी संज्ञा उत्पन्न हुई इसी लिये "देवनद्योर्यदन्तरम्"

ऐसा कहा है, प्रथम गंगा का नाम पद्मा था फिर उस नदी का नहर भागीरथ ने निकाला इस लिये उसका नाम भागीरथी पड़ा और उस समय ब्रह्मचारी और ब्राह्मण इन का नाम आर्य था, उसका सूत्र है कि:—

'आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः' पाणिनिसूत्रम् ।

ऐसी व्यवस्था होते हुये हमारे देश का नाम आर्य-स्थान अथवा आर्यखण्ड होना चाहिये सो उसे छोड़ न जाने हिंदुस्थान यह नाम कहां से निकला ? भाई श्रोतागण ! हिन्दु शब्द का अर्थ तो काला, काफिर, चोर इत्यादि है और हिन्दुस्थान कहने से काले, काफिर, चोर लोगों की जगह अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है तो भाई इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो ? और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ अथवा अभिज्ञात इत्यादि, और अवर्त कहने से ऐसों का देश अर्थात् आर्यावर्त का अर्थ श्रेष्ठों का देश ऐसा होता है, सो भाई, ऐसे श्रेष्ठ नाम को तुम क्यों स्वीकार नहीं करते ? क्या तुम अपना मूल का नाम भी भूल गये ? हा, यह हम लोगों की स्थिति देख कर किस के हृदय को क्लेश न होगा, सब ही को होगा,

अस्तु-सज्जन जन ! अब हिन्दु इस नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त इन नामों का अभिमान धरो, राज्यभ्रष्ट हम लोग हुये तो हुये परन्तु नामभ्रष्ट तो हमें न होना चाहिये-ऐसी आप सबों से मेरी प्रार्थना है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

नवां व्याख्यान।

इतिहासविषयक।

इक्ष्वाकु यह आर्य्यावर्त का प्रथम राजा हुआ,, इक्ष्वाकु की ब्रह्मा से छठी पीढ़ी है, पीढ़ी शब्द का अर्थ बाप से बेटा यही न समझे किन्तु एक अधिकारी से दूसरा अधिकारी ऐसा जाने, पहिला अधिकारी स्वायम्भुव था, इक्ष्वाकु के समय में लोगों ने अक्षर स्याही आदि से लिखने की रीति को प्रचार में लाये ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिलकुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ २ बन्द होने लगी, जिस

लिपि में वेद लिखे जाते थे उसका नाम देवनागरी ऐसा है, कारण--देव अर्थात् विद्वान् इनका जो नगर ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षरद्वारा अर्थ संकेत उत्पन्न करके ग्रंथ लिखने का प्रचार प्रथम प्रारम्भ किया, ब्रह्मा तक दिव्यसृष्टि थी, पश्चात् मैथुनी सृष्टि उत्पन्न हुई, उस से विराट् हुआ, और विराट् के पीछे मनु हुआ, मनु ने धर्मव्यवस्था बनाई, मनु के दस पुत्र थे, उनमें स्वायम्भुव के समय से राजकीय और सामाजिक व्यवस्थाएं प्रारम्भ हुई, इक्ष्वाकु राजा हुआ तो वह इससे नहीं कि राजकुल में वह उत्पन्न हुआ था अथवा उसने बलात्कार से राज्य उत्पन्न किया हो किन्तु सारे लोगों ने उसे उस की योग्यतानुकूल राजसभा में अध्यक्षस्थान पर बैठाया, उस समय सारे लोग वैदिक व्यवस्थानुकूल चलते थे, भृगुजी ने अपनी संहिता में यह सब व्यवस्था प्रकट की है और यह ग्रन्थ श्लोकात्मक है, इस से वाल्मीकि जी ने उसे बनाया यह कहना कितना सयुक्तिक है सो देखो, इस व्यवस्था के सम्बन्ध से मनु के सातवें आठवें और नवें अध्यायों में जो राज्यों की व्यवस्था बतलाई है

उसे देखो, केवल अकेले राजा ही के हाथ में किसी प्रकार का हुक्म चलाने की शक्ति न थी, वह तो केवल राजसभा में अध्यक्ष का अधिकार चलाता रहता, राज्य की व्यवस्था कैसी थी उसे संक्षेप से इस स्थल पर कहता हूँ। ग्राम, महाग्राम, नगर, पुर, ऐसे २ देशविभाग रहते थे, ग्रामों में सौ २ घर, तो महाग्रामों में हज़ार. नगर में दस हज़ार और पुर में तो इस से भी अधिक घरों की संख्या रहती थी, दश ग्राम पर एक शतेश नाम का अधिकारी रहता था और सहस्र ग्रामों पर सहस्रेश नाम का अधिकारी होता था, दश सहस्रों पर महासुशील नीतिवान् ऐसा एकही अधिकारी रहता था, लिखने पढ़ने के कामों में अनुभवशील ऐसे सब देशों में गुप्त दूत बातमियां (ख़बरें) पहुँचाने के लिये तथा अधिकारी लोग कैसा अधिकार चलाते हैं इस का शोध रखने के लिये चारों ओर फिरते रहते थे, और यह दूतों का काम पुरुष या स्त्रियां भी करती थीं, राज्य में चार प्रकार के अधिकारी होते थे, राज्याधिकारी, सेनाधिकारी, न्यायाधिकारी, और कोषाधिकारी ऐसे चार महकमे के चार अधिकारी रहते थे, इक्ष्वाकु राजसभा का प्रथम अध्यक्ष था, यद्दि

सभा के विचार में दो पक्ष आ पड़ते उस स्थल पर निर्णय करने का काम अध्यक्ष का था, देश में भिन्न २ जाति की सभायें थीं, उन में राजार्य्य सभाही मुख्य थी और धर्मसभाएं अर्थात् परिषद् भी स्थल स्थल पर थीं, दश विद्वान् विराजे विना परिषद् सभा नहीं होती थी, और न्यून से न्यून तीन विद्वानों के आये विना तो सभा का काम चलता ही नहीं था, धर्मसभा की ओर किसी प्रकार का अधिकार न था किन्तु उसमें धर्माधर्म का विवेचन और उपदेशही होता था, परीक्षा और शिल्पोन्नति की ओर भी इस सभा का ध्यान रहता था, न्यूनाधिक के विषय राजार्य्य सभा को विदित करके उस सभा की ओर से दण्डादिक की व्यवस्था होती थी, महाभारतान्तर्गत सभापर्व में भिन्न २ सभाओं का वर्णन किया हुआ है उसे देखो, सेना के सिपाही लोगों को आज्ञा मानना ही मुख्य कर्तव्य कर्म है ऐसा बतलाकर उन्हें धनुर्वेद सिखाते थे, आर्य लोगों को 'क़वायद क्या है' यह विदित न था ऐसा बहुत से अंगरेज़ी पढ़े हुये लोग कहते हैं परन्तु यह कहना पागलपने का है, क्योंकि मकर व्यूह, वकव्यूह, बलाकव्यूह, सूचीव्यूह, शूकरव्यूह, शकट-

व्यूह, चक्रव्यूह इत्यादि क़वायद के नाना प्रकार प्राचीन काल में आर्य लोगों को विदित थे, और सैन्य में की भिन्न २ टोलियों पर दशेश, शतेश, सहस्रेश ऐसे अधिकारी रहते थे और उस समय के इन के हथियार अर्थात् शक्ति, असि, शतघ्नी, भुशुण्डी आदि होते थे, अंगरेज़ी लोगों में अब तक व्यूह रचना का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, अर्थात् वे नहीं जानते कि व्यूह रचना किसे कहते हैं, थोड़ी बहुत क़वायद करते हैं उतने ही से वे प्राचीन आर्य लोगों की अपेक्षा कुशल हैं ऐसा तुम्हें प्रतीत होने लगा है, सारांश "निरस्तपादपेदेशे एरण्डोऽपिद्रुमायते" यह कहावत सत्य है।

इस से अंगरेज़ों में हमारी अपेक्षा विशेष गुण नहीं ऐसा मेरा कहना नहीं है किन्तु उन में भी बहुत से अच्छे गुण हैं सो उनके अच्छे गुणों को हम स्वीकार करें यही हमें योग्य है, पहिले समय में जो कोई युद्ध में जाता तो उसके लड़के बालों को वेतन मिला करता और उस प्रसंग में जो लूट मिलती तो उसे नियत समय पर व्यवस्था से बांट दिया करते, सैन्य की योग्यव्यवस्था के सम्बन्ध से उस समय बहुतेरे कार्य्यों की ओर ध्यान

दिया करते, और समस्त ऐश्वर्य्य का मूल कारण सेन है यह जान सेना में के लोगों को कोई प्रकार की चिन्ता वा कष्ट न होने देते इस लिये अधिकारी लोग उस समय बहुतही दक्ष होते थे, यदि सेना में कोई बीमार पड़ता तो उसकी विशेष चिन्ता की जाती थी अर्थात् उत्तम रक्ष होती थी।

कार्षापणंभवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्रराजाभवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ १॥

श्रेष्ठ पुरुषों को और राजा को गरीबों की अपेक्षा शतपट (सौगुना) दण्ड अधिक दिया जाता, और राज लोग मुनि लोगों के साथ धर्मवाद करने में समय लगा रहते, इस विषय में पिप्पलाद मुनि की कथा देखो, इस प्रकार इक्ष्वाकु के समय में राज्यव्यवस्था थी, इक्ष्वाकु राजा इस प्रकार का सुशील, नीतिमान, सुज्ञ, जितेन्द्रि विद्वान् और गुण सम्पन्न राजा था।

बहुत सी पीढ़ियों के पश्चात् सगर राजा राज्य कर लगा, उस समय राजा लोग यदि मूर्ख होते तो उन्हें अधिकार से दूर कर देते अथवा अधिकार ही न देते।

इन दिनों हमारे राजा लोगों को खुशामदियों की चंडाल चौकड़ी ने घेरा हुआ है फिर सहजही राजाओं में सारे दुर्गुण वास करते हैं इस में आश्चर्य ही क्या है? बस सारांश इतनाही है कि यह हमारे आर्यावर्त का दुर्दैव है।

बहवः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥१॥

(महाभारते)

सगर राजा सुशील और नीतिमान् था, इस राजा का भूर्ख और दुष्ट ऐसा असमंजस नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, उसने एक गरीब के बालक को पानी में फेंक दिया इसकी प्रार्थना का न्याय राजार्य सभा के सम्मुख होने पर राजा ने उसे शासन किया, और उसे एक महा भयंकर जंगल के बीच कैद कर रक्खा, इसी का नाम न्याय है, नहीं तो आज कल के राजा लोग और उनके न्याय का क्या पूछना है, कहते हैं कि—

समरथ को नहिं दोष गुसाईं ।
रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥

बस इस प्रकार की शिक्षा ने भारत को तबाह कर दिया, प्यारे आर्यगण ! समर्थों को मूर्खों की अपेक्षा अधिक दोष लगता है क्योंकि उसे समझ देखकर समर्थ किया है, वह भला बुरा पाप पुण्य सब जान सक्ता है, तात्पर्य कि ऐसे २ गपोड़ों को न मानकर अपने धर्मानुरागी पूर्वजों की धर्म्मशिक्षानुकूल वर्ताव रक्खें इसी में कल्याण है ।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

—:o:—

दशवां व्याख्यान

इतिहासविषयक ।

—:*:o:*:—

गत व्याख्यान में कहे हुये सगर राजा के समय जिस दुष्ट राजपुत्र को दण्ड मिला था उसको राज्य का

अधिकार न मिला-इसी सागर राजा के सम्बन्ध में बहुत सी अलाउद्दीन की तरह कहानियां मनुष्यों में प्रसिद्ध हैं परन्तु इस प्रकार की अनुचित कहानियों पर कौन विश्वास कर सक्ता है कि एक ही समय में सगर राजा के साठ हज़ार पुत्र पैदा हुये उन्हों ने समुद्र को खोद डाला, इन के हाथ बड़े २ थे और शरीर भी अतिपुष्ट थे, कोई २ मनुष्य इस बात की उपपत्ति इस रीति पर करते हैं कि यह सब वरदान का प्रभाव था अब वरदान अर्थात् आशीर्वाद में केवल वाणी से शब्द बोले जाते हैं परन्तु केवल शब्दमें कर्त्तव्य शक्ति नहीं है, जैसे "अग्नि" बोलने से जलन या दीप्ति पैदा नहीं होती इनमें केवल वाच्य वाचक सम्बन्ध है यह सब मिथ्या बड़बड़ाहट है, इसमें मूल्य और समय खोना अर्थात् निर्बुद्धिता है इस सगर के अनन्तर अमीचर राजा हुआ वह गुब्बारह की विद्या में निपुण था। कोदिस्कटी ब्राह्मण ग्रन्थ में बहुत सम्राट राजा वर्णन किया है अयोध्या में ऋतुपर्ण नामी राजा राज्य करताथा। इधर दक्षिण में राजा नल राज्य करताथा, नल की रानी दमयन्ती का अपने पति से

वियोग होगया उस समय वर्णन कियागया है कि इसने अपने ही स्वयम्वर के विषय में दो श्लोक स्वयं बनाये थे राजा नल को अश्वविद्या अर्थात् अग्निविद्या विदित थी।

अग्निर्वै अश्वः। देवा एतद्वज्रं ददृशुः। अग्निर्वै वज्रः। यद श्वं तं पुरस्तादुच्छ्रयं तस्या भयेष्ठ निवातेग्निरजायत। तस्माद्यज्ञाग्निमन्थिष्यन्त्स्याजदश्व मानेन वै ब्रूयात्सपूर्णः प्रतिष्ठिते वज्रेवैतदुच्छ्रयति।

(शतपथ०)

अग्नि का नामही अश्व है। विद्वानोंने इस वज्र को दिखाया। वज्र नाम है अग्नि का जो अग्नि है इसको आगे से दिखाया गया है इस जगह जहां कि इस अग्नि का भय नहीं है अर्थात् जहां कि हुआ न हो अग्नि प्रसिद्ध हुआहै इस कारण से जहां अग्नि का मन्थन होता है अर्थात् अग्नि की अनेक प्रकार की सुन्दरता होती है वहां अग्नि के वास्ते निश्चय कहा जाता है कि सम्पूर्ण संसार

इसी के बल से स्थित है। यह वज्र अर्थात् अग्नि है-इस संसार को उन्नति देती है। उस समय राजा नल अयोध्या-पुरी के राजा ऋतुपर्ण के यहां नौकर था वहां से दमयन्ती के स्वयम्बर में नल की विद्याशक्ति से एक ही दिन में राजा ऋतुपर्ण पहुंच गया था इस कारण से नल की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इस के साथ दुर्बल श्यामकर्ण घोड़ों की मनुष्य ऊटपटांग बातें करते हैं इनमें कुछ भी सच्चाई नहीं है, इस के अनन्तर भरतकुल में राजा होते रहे इसी कारण पर उस समय से आर्य्यावर्त का नाम भारतवर्ष भी होगया। तदनन्तर राजा रघु हुआ वह भी बड़ा महात्मा था। राम राजा से रघु राजा बड़ा था। रघु के पीछे राम राजा हुये। इनका रावण से युद्ध हुआ। इनका इतिहास रामायण में वर्णन किया गया है। ऐसे २ वीर, पराक्रमी, बुद्धिमान, विद्वान, वैद्य और न्यायकारी राजा लोग आर्य्यावर्त्त में हुये हैं। उस समय आर्य्यावर्त्त में प्रत्येक स्थान पर बड़ी भारी उन्नति थी। कोरस्टिकनी ब्राह्मण में लिखा है कि सब पुत्र वा पुत्रियां पांच वर्ष की अवस्था में पाठशाला को भेजे जाते थे। यह एक सामा-

जिक नियम था। परन्तु माता पिता इस सामाजिक नियम को तोड़ते तो राजसभा से उनको दण्ड मिलता था। इस तरह की उन्नति का समय व्यतीत होते हुये राजा शन्तनु का समय आ पहुँचा इस समय आर्य्यावर्त्त की द्रव्य बहुत बढ़ गई थी। इस द्रव्य के नशे के कारण से सहजही इस आर्यावर्त्त की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई। जिसके पास द्रव्य बहुत थी वह नशा में मस्त था। इस कारण से एका-एक देश में सामाजिक नियमों से विरुद्धता हुई थी।

राजा शन्तनु को द्रव्य का बड़ाभारी अभिमान उत्पन्न हुआ और देश में व्यभिचार बढ़ गया। निष्कण्टक राज्य होने के कारण से शन्तनु और भी विशेष अभिमान संयुक्त हुआ।

मनुजीने कहा है—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति॥

जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फँसे हुये हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं होसक्ताहै। धर्म के जिज्ञासुओं के लि

परम प्रमाण वेद है । इस के अनन्तर शन्तनु अत्यन्त विषयों की अधीनता में हो चला—सत्यवती पर इस की चालाकी का समाचार आप सब लोग जानते हैं । परन्तु शन्तनु राजा भी इस पर बल न करसका । सत्यवती के पिता ने इस को डाटा था । जब तक भीष्म ने अपना कुल हक़ सत्यवती के पुत्रों को देने का निश्चय नहीं किया तब तक सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा की आज्ञा स्वीकार नहीं की । भीष्मपितामह के इस निश्चय पर इसने अपना कुल हक़ सत्यवती के पुत्रों को दे दिया । सत्यवती के दरिद्री पिता ने राजा का कहना स्वीकार किया । इस से ही प्रकट होसक्ता है कि प्राचीन आर्य मनुष्यों में कितनी स्वाधीनता थी । राजा लोग भी सामाजिक प्रबन्ध में किस प्रकार प्रबन्धकर्त्ता हुये थे । इस आर्यावर्त्त के राजाओं की नेकी वा नेकनामी संसार में फैल रही थी । योरुप और अमेरिका के कुल राजा लोग इन की सेवकाई में तत्पर होकर कर देते थे । अब सोचिये कि वर्त्तमान समय में देश की दशा ऐसी गिर गई है । ये सब बातें महाभारत के राजसूय और अश्व-

मेध पर्वों में वर्णित हैं-निदान शन्तनु राजा के समय में पाप बढ़ने लगा और राज्य का प्रबन्ध बिगड़ चला, यह ही पाप अन्त में बढ़ते २ कौरवों वा पाण्डवों के बड़े भारी संग्राम पर समाप्त हुआ और उसी समय से इस देश की भाग्य बिगड़नी प्रारम्भ हुई । अब इस जगह राजा लोगों का इतिहास समाप्त किया जाता है ।

अब आगे देवता, विद्या और ऋषि आदि के इतिहास प्रारम्भ करते हैं । शतपथब्राह्मण में लिखा है कि देवता विद्वानोंको कहते हैं इन विद्वानों के तीन प्रकार थे-प्रथम देव, द्वितीय ऋषि, तृतीय पितृ इन तीन प्रकार से पृथक ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में तेंतीस देवता वर्णन किये गये हैं और तेंतीस करोड़ का मानना जो नवीन पुरुषों ने किया है वह बहुत अनुचित है, क्योंकि कोटी का अर्थ प्रकार है और इन से पुस्तक निर्माण लोगों ने करोड़का अर्थ करके ऐसी गलती खाई है कि विष्णु, आदित्य, रुद्र, इन्द्र आदि इस तरह के तेंतीस देवता शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद में वर्णन किये गये हैं-वह देख लेना चाहिये । इन तेंतीस देवताओं, बारह आदित्य अर्थात् महीने, ग्यारह रुद्र-रुद्र

शब्द का अर्थ यों है कि इस शरीर में से प्राणों के निकल जाने पर लोग रोया करते हैं इस लिये प्राणों को रुद्र कहते हैं, इस लिये दशवां प्राण और जीवात्मा मिलकर ग्यारह रुद्र समझना चाहिये, क्योंकि इनके शरीर से अलग होने पर ही सम्बन्धी रोते हैं। जो कि निम्नरीति पर वर्णित है।

१ पृथिवी, २ जल, ३ तेज, ४ वायु, ५ आकाश ये पांचों शुद्ध सृष्टि में के ६ देव ७ चन्द्रमा ८ सूर्य ये सब मिल कर आठ वसु हुये, बत्तीसवें प्रजापति, तेंतीसवें विष्णु वैकुण्ठ में रहने वाले थे और वह उनकी राजधानी का नगर था। महादेव कैलास के रहने वाले थे। कुबेर अलकापुरी के रहने वाले थे। यह सब इतिहास केदारखण्ड में वर्णन किया गया है। हम स्वयं भी इन सब ठौर घूमे हुये हैं जिस पहाड़ पर कि पुरानी अलकापुरी थी उस पर भी मैं इस विचार से गया था कि एकबार ही अपना शरीर बर्फ में गला कर संसार के धंधों से निवृत्त होजाऊँ; परन्तु वहां पहुँच कर विचार में आया कि इस जगह पर मरजाना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है-असत्य ज्ञान प्राप्त करके परोपकार

करना पुरुषार्थ है—इस विश्वास के बदलने पर लौट आया था। अब तो विदित होता है कि जीवात्मा को मृत्युही नहीं है, काश्मीर से लेकर नैपाल तक हिमालय की जो ऊँची चोटियां हैं वहां देवता अर्थात् विद्वान् पुरुष रहते हैं। गत समय की तरह प्रायः इस समय बर्फ़ नहीं पड़ता था। ऐसा विचारांश होता है कि यदि इस समय भी वहां बर्फ़ पड़ता होता तो देव अर्थात् विद्वानों का इस स्थान पर निवास कैसे होता, इस देवलोक में भद्र पुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे, इस समय भी भरतखण्ड में हमारे कथन की प्रमाण मिलती है। देहली में इन्द्रप्रस्थ नामी स्थान था। वहां इन्द्रका राज्य था। पुष्कर और ब्रह्मावर्त्त में ब्रह्मा ने राज्य किया। काशी वा उज्जैन और हरद्वार आदि में महादेव जी का राज्य था। इन विद्वानों अर्थात् आर्यों के वैरी अनार्य भील आदि लोग थे इनके साथ बराबर आर्यों को युद्ध करना पड़ता था। गुब्बारों में बैठकर भी युद्ध करते थे। केवल यही नहीं, किन्तु जहां कहीं स्वयंवर रचा गया और बुलावा गया कि उन्हीं गुब्बारों पर चढ़कर शीघ्रही उस स्थान पर

पहुँच जाते थे। इन देवतों में बड़े देवता लोग अत्य
वीर थे, इन की स्त्रियां मर्दाना जोश से अपने पतियों
साथ युद्ध में जाया करती थीं। इन पहाड़ के रहने
देवताओं के राज्य के व्यवहार आज तक के राजपूत
लोगों से अब तक मिलते हैं। प्राचीन समय के राजा लोग
युद्ध के समय रथों में बैठे भोजन किया करते थे। इस
समय भी राजपूतों में ठाकुर लोग अवसर आने पर ऐसा
ही करते हैं। राजपूत लोग जिस स्थान पर जी चाहे
खाते हैं। इसी के सम्बन्ध में मैं तुम्हें एक विचित्र
सुनाता हूँ-जो कि शहर जयपुर कुछ समय पहले से प्रचलित
है। जयपुर के राजा लोग ब्राह्मण को रसोईदार नौकर
कर नहीं रखते-इस का कारण इस रीति पर वर्णन करते
हैं कि तीन चार पुश्तों से पहले रसोई का काम ब्राह्मण
लोग नहीं करते थे। ब्राह्मण वा क्षत्रिय और वैश्य इन
तीन वर्णों के घर में शूद्र रसोईदार रहते थे और यह
आचार मनुस्मृति में भी मिलता है। वर्त्तमान में यहां
राजपूत के रसोईदार हैं, ब्राह्मणों को रसोई के काम के
लिये न रखने का कारण यह वर्णन करते हैं कि गत

समय में एक बार ब्राह्मण ने राजा के भोजन में विष डाल दिया था।

प्राचीन समय में जिसको त्रिष्टुप् देश कहते थे उस को वर्त्तमान में मुल्क तिब्बत कहते हैं। कोई २ हमसे प्रश्न करते हैं कि विष्णु, महादेव, इन्द्र आदि देवता आज कल्ह हमें दिखलाई नहीं देते, उनके लिये हमारा उत्तर यह है कि नेक और पराक्रमी विद्वान् जो थे वे सब के सब मर गये। कोई २ पूंछते हैं कि हिमालय में राज्य करनेवाले लोग कहां चले गये। कोई २ कहते हैं कि देव अमर हैं परन्तु हम पापी लोगों को दिखाई नहीं देते। भला, देवता लोग तो अमर होने के कारण न देख पड़ें, उनके नौकर चाकर भंगी आदि क्यों नहीं दिखाई देते। ठीक बात तो यह है कि जो उत्पन्न हुआ है वह दिखलाई देता है और वह अवश्य एक दिन मरनेवाला है, इस तर्कणा से देव भी मर गये।

यद्दृष्टं तन्नष्टम्।

देव मरगये इस से यह अभिप्राय है कि इस पृथिवी पर से उनका शरीर जाता रहा परन्तु देवता और

मनुष्य का आत्मा अमर है, इस लिये जाति के विचार से देवजाति अर्थात् विद्वानों का समूह अमर है अर्थात् सदैव कुछ न कुछ विद्वान् पुरुष रहते हैं। इस कारण से कहा है कि—

विद्वांसो वै देवाः।

इस लिये देवजाति तो अमर है। अब प्रश्न है कि हमारे देश के इतिहास में ऐसा गड़बड़ क्यों होगया और इसका क्या कारण है कि किसी स्थान अथवा लेख के दिन आदि का ठीक पता नहीं लगता है जानना चाहिये कि मतलबी लोगों ने पुस्तकों में तारीखें छिपा दीं और जैनियों वा मुसलमानों ने ग्रन्थ जला दिये। यह संक्षेप से देवताओं का इतिहास वर्णन किया गया।

अब संक्षेप रीति से विद्या का इतिहास कहा जाता है कि सबसे पहला विद्वान् देव ब्रह्मा हुआ, इसने, अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा चार ऋषियों के पास वेद पढ़ा। इस ब्रह्मा का पुत्र विराट, उसका पुत्र मनु, मनु के दश पुत्र मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि थे इस समय में पढ़ने पढ़ाने की रीति क्या थी, यह सरलता से विदित हो सका

है । ऋग्वेद की इक्कीस शाखा, यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा, सामवेद की एक हज़ार शाखा और अथर्ववेद की नव शाखा थीं-इसी तरह पर ग्यारह सौ इक्कीस शाखा पढ़ने पढ़ाने के लिये थीं। चारों वेदों को सहित अर्थ के जानने वाला जो मेध यज्ञ करनेवाला होता था--उसको ब्रह्मा कहते थे। ब्राह्मणों के बनाये हुये जो वेदों के व्याख्यान थे--उनको ब्राह्मण पुस्तक कहा जाता था। ऐसे ब्राह्मण और अनुब्राह्मण रूप बहुत सी पुस्तकें हैं—साफ़ पानी और हवा जिन एकान्त स्थानों की होती थी, ऐसे एकान्त स्थानों पर जा कर रहनेवाले ऋषि मन्त्र, दृष्टि, श्रवण वा मनन करने वाले पदार्थ वा विवेचन करनेवाले, वा ब्रह्मविचार करने के वास्ते, वा सिद्धान्तों के निश्चय करने के लिये नैमिषारण्य आदि स्थानों में सभा करते थे। एक महर्षि पाणिनि की बनाई हुई अष्टाध्यायी में ही देखो कितने प्रकार के नाम ऋषियों के आये हैं, आज कल के स्वेच्छाचारी वैरागियों के समूह को देखकर कृपापूर्वक प्राचीन ऋषियों का अनुमान कदापि न कीजिये। सब तैयार की हुई पुस्तकों पर एक सिद्धान्तों की पुस्तक

तैयार करते थे फिर उसपर, ऋषियों की सभामें विचारांश होता था। राजसभा के विषय में मनुजी कहते हैं कि-

मौलांछास्त्रविदःशूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान्
सचिवान्सप्तचाष्टौवा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥
तैः सार्द्धं चिंतयेन्नित्यं सामान्य संधिविग्रहौ ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानिच ॥
तेषां स्वंस्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥

(देखो मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक ५४ से ५७ तक)

अपने राज्य और देश में उत्पन्न हुये, वेद वा शास्त्रों के जाननेवाले शूरवीर, कवि, गृहस्थ अनुभवकर्त्ता ज्ञात अथवा आठ धार्मिक, बुद्धिमान्, मन्त्री राजा को रखना चाहिये; क्यों कि सहायता के लिये साधारण काम भी एक को करना कठिन होजाता है। फिर बड़े भारी

राज्य का काम एक से कैसे हो सक्ता है-इस लिये एक को राजा बनाना और उसी की बुद्धि पर सारे काम का बोझ रखना बुद्धिमानी नहीं है। विद्वान महाराजा को उचितहै कि मन्त्रियों सहित छह बातों पर विचार करे-मित्र और शत्रु में चतुरता, अपना स्थान, शत्रु के अवसर से देश की रक्षा, विजय किये हुये देशों की स्वास्थ्य प्रत्येक विषय पर विचारपूर्वक करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ अपनी और दूसरों की भलाई की बात विदित हो न्याय करना।

इन श्लोकों से राजसभा का वर्णन यथार्थ विदित होताहै। पुराने राजा युद्ध करने वाले सिपाहियों की रक्षा अपने पुत्र की तरह करते थे इस लिये उन सिपाहियों को युद्ध करने में बड़ा भारी उत्साह होता था। इन विचारों पर सब राजा लोग चलते थे और सब सामान से देश की रक्षा करते थे और उनके लिये खजाना जमा करनेमें लगे रहते थे। मनुजी ने युद्ध में जय के विषय में विस्तार पूर्वक वर्णन कियाहै और उसी युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुये सिपाहियों के हक भी बतलाये हैं और

क्षत्रियों का धर्म पूर्णतया वर्णन किया है। केवल यही नहीं किन्तु मनुजी ने विद्या की रक्षा और विद्वानों के सत्कार आदि के लिये नियम भी राजा को किये हैं। महाभाष्य में लिखा है कि ब्राह्मण को छह अंगों सहित वेदों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

ब्राह्मणेन षडंगो वेदोऽध्येतव्यश्चेति ॥

इन छह अंगों में व्याकरण मुख्य है और पाणिनि बड़े विद्वान वैयाकरण हो गये हैं इनकी जितनी प्रशंसा की जावे उतनी ही कम है। इन महामुनि ने पांच पुस्तकें बनाई हैं-१ शिक्ष, २ अष्टाध्यायी, ३ धातुपाठ, ४ गणपाठ, ५ उणादिगण। यह बात निश्चय करने के लिये कि पाणिनि कब हुये अनेक प्रकार की तर्कणायें प्रस्तुत की जाती हैं, परन्तु इस विवाद से कुछ लाभ नहीं होसक्ता यह बात तो ठीक है कि पाणिनि बहुत पुराने ग्रन्थकर्त्ता हैं। प्राचीन समय में चौदह विद्याओं के पढ़ने की रीति हमारे देश में थी, चार वेदों के नाम तो सभी जानते हैं। चार उपवेद और छह अंग मिलकर चौदह होते हैं चार उपवेद और छह अंग कौन से हैं उनका

विचार करेंगे। चार उपवेद जो हैं उन में से पहला आयु-वेद है इस पर जो ग्रन्थ चरक और सुश्रुत मिलते हैं उन के बनाने वाले धन्वन्तरि ऋषि हैं, इस विषय में वर्णन हमारे सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में किया है। दूसरा धनुर्वेद है जिसमें अस्त्रशस्त्र विद्या का विचार है, इस उपवेद में ब्रह्मास्त्र, पाशुपतअस्त्र, नारायण अस्त्र, वरुण अस्त्र, मोहन अस्त्र, वायव्यास्त्र आदि की व्यवस्था लिखी है। यह सब अस्त्र वेदार्थ के विचार करने और वस्तुओं के गुण और दोष जानकर तैयार किये जाते थे। क्षत्रिय लोगों को यह धनुर्वेद बड़े परिश्रम से पढ़ना पड़ता था। यह कहना दीवानापन है कि केवल मन्त्रों के उच्चारण से शस्त्र और अस्त्र तैयार होजाते थे। तीसरा गान्धर्व वेद है जिसमें विद्वानों की गान विद्या का वर्णन किया है इस समय में नये ढंग की कविता अर्थात् पद, ध्रुवपद, ख्याल, लावनी आदि नहीं गाते थे। प्राचीन आर्यलोग वेदमन्त्रों का रसीला गायन करते थे। चौथा अथर्ववेद अर्थात् शिल्पशास्त्र इसका विचार यमसंहिता, वराहसंहिता विश्वकर्मसंहिता आदि पुस्तकों में बहुत तरह पर किया है।

एक अपूर्व बात इस समय स्मरण हुई है वह आप को सुनता हूं, एक अंग्रेजी विद्वान डाक्टर हमको मिला उसने मुझसे कहा कि हमारे प्राचीन आर्य लोगों में डाक्टरी औज़ार का कुछ भी प्रचार न था और उन्हें विदित न था, तब मैंने सुश्रुत का "नेत्र अध्याय" जिस में बारीक से बारीक औज़ार का वर्णन है—निकाल कर उसे दिखाया-तब उसको स्वास्थ्य हुई कि आर्यलोग चिकित्सा में बड़े चतुर थे और उन्हें औज़ारों की विद्या भी उत्तम ज्ञात थी।

छह वेदांग हैं—१ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ छन्द, ६ ज्योतिष—ये सब मिल कर चौदह विद्यायें हुईं। इन सब पुस्तकों को अवलोकन करने में बारह वर्ष लगते हैं और इन ग्रन्थों का दृढ़ अभ्यास करने से बुद्धि में उत्तमता पैदा होती थी। इस समय कुछ ऐसा अनुचित शिक्षा प्रबन्ध का प्रचार हुआ है कि इन में से एकभी विद्या अत्यन्त परिश्रम करने पर चौबीस वर्ष में भी नहीं आती है। इसका कारण यह है कि केवल तोता-रटंत की घोषापोथ चलती है इस प्रकार की शिक्षाप्रणाली

बन्द करनी चाहिये। प्राचीन ऋषियों ने विद्यास्नातक होने को ब्रह्मचारी के लिये केवल बारह वर्षों की हद रक्खी है। उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतुने ये सब विद्यायें बारह वर्षों में सीखी थीं ऐसा लेख मिलता है और यदि प्राचीन रीति के अनुसार इस समय भी शिक्षा दी जावे तो बारह वर्षों से विशेष समय इस काम में नहीं लगेगा।

अब कुछ थोड़ासा विचार छह दर्शनों का कियाजाता है, पहला दर्शन जैमिनिजी का बनाया मीमांसाशास्त्र है, इसमें धर्म और धर्मी का विचार किया है और प्रत्यक्ष वा अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों का माना है। धर्मका लक्षण करते हुये इन्होंने वर्णन किया है कि आज्ञाही धर्म का लक्षण है। दूसरा कणादमुनि का बनाया वैशेषिक दर्शन है इसमें द्रव्य को धर्मी मानकर गुण आदि को धर्म स्थापन करके विचार किया है इन्हों ने भी दोही प्रमाण माने हैं और छह पदार्थों का निरूपण किया है। तीसरा गौतम का बनाया न्यायशास्त्र है इस में यह तर्क प्रारम्भ कराके धर्मी के धर्म और धर्म के धर्मी क्यों नहीं होता, प्रमाण और प्रमेय का सम्बन्ध बतलाया है और सोलह पदार्थ माने हैं, इस

पर कोई २ यह कहते हैं कि इस शास्त्र में परस्पर विरोध शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिये। यदि एक विषय में अवगुण संयुक्त विचार का प्रवेश हो तो उस को विरोध कहते हैं। परंतु यदि अनेक विषयों के विचार से अनेक विचारों का वर्णन हो तो उसको विरोध नहीं कहते। ये छहो दर्शन अपने २ लेखों पर चलने वाले हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—:*:—

ग्यारहवां व्याख्यान।

इतिहास विषयक।

—:*:—

गौतम ने निम्नरीति पर सोलह पदार्थों का वर्णन किया है--१ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवेव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति और १६ निग्रहस्थान। इस के अनन्तर आठ प्रमाण स्थापित कर के इन की जांच की है और अन्त

में चारही प्रमाणों के अन्तरंग आठों को ठहरा दिया है, इन प्रमाणों के मेल से अर्थ की जांच होकर सत्य और असत्य का विचार होता है। वे आठ प्रमाण ये हैं-१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ शब्द, ५ हेतु, ६ अर्थापत्ति, ७ सम्भव, ८ अभाव इन में से पांचों तो चौथे में मिल जाते हैं और छठां, सातवां, आठवां, अनुमान में मिल जाते हैं। प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति का लक्षण यह है कि इस को प्रमाण कहते हैं और जिस से कि ठीक अर्थ प्राप्त हो वह प्रमेय है। निश्चय करने वाला जो है उसे प्रमाता कहते हैं। अर्थ का विज्ञान जो उत्पन्न होता है उस को प्रमिति कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान को अनुमानकी सहायता की बहुतसी बड़ी आवश्यकता रहती है। जैसे एक वस्तु का पहिला भाग देखें तो हमको उस वस्तु का पूर्ण आकार समझ पड़ता है। वास्तव में यह विदित होता है कि उस वस्तु के पिछले भाग का अवशिष्ट ज्ञान नहीं है, इस पर विना अनुमान के यह नहीं होसक्ता फिर भी अगले भाग का एकदेशी ज्ञान रहे। सम्पूर्ण भागों का अनुमान होजाता है। कोई २ यह शंका किया

करते हैं कि प्रमाण पहले या प्रमेय पहले ? उत्तर यह है कि दोनों एक समय होते हैं इस पर यदि यह तर्कणा उठाई जावे कि दो वस्तुओं का ज्ञान एक बार जिसमें पैदा न हो यह ही मनकी पहिचान है। फिर इसमें एक ही समय प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान क्योंकर होसक्ता है तो इस का उत्तर यह है कि यह तर्कणा प्रमाण और प्रमेय पर नहीं होसक्ती है क्योंकि दूसरे के ज्ञान से जो प्रमाण होता है इस तरह प्रमेय और प्रमाण का ज्ञान एक ही समय में हो जाता है जैसे दीपक की तरफ देखो तो वह दूसरी वस्तु का प्रमाण अर्थात् दिखाने वाला और स्वयं वह प्रमेय है। परन्तु दोनों बातें एक ही समय में हैं। सूर्य से प्रकाश होता है। परन्तु ऐसा नहीं होता कि सब वस्तुयें पहले ही से दिखाई देने लगजायँ और प्रमेय जो सूर्य्य है वह पीछे दिखाई देवे दोनों एकबार ही दिखाई देते हैं अब गौतम के विचार के अनुसार एक सत्य ही धर्म है। गौतम ऋषि ने शास्त्रों पर विचार करने वाले हम नये लोगों का बड़ा उपकार किया है कि इस समय एक प्रकार का वाक्छल (धोखा) मच रहा है। इस वाक्छल की मीमांसा गौतम ने भली भांति की है।

अविशेषाभिहितेऽर्थेन वक्त्रभिप्रायादर्थान्तर

कल्पना वाक्छलम् ।

[देखो--गौतम का न्यायशास्त्र अध्याय १ आह्निक १ सूत्र ५३]

अपना प्रयोजन प्राप्त करने के लिये बोलने वाले के प्रयोजन के विरुद्ध समझना वाक्छल है इस का उदाहरण किसी ने इस प्रकार कहा है ।

नवकम्बलोऽयं माणवकः ।

इस वाक्य में जो शब्द 'नव' है इस के दो अर्थ हैं एक नया और दूसरा नवां है अपने अर्थ के अनुसार बोलने वाले के अर्थ के विरुद्ध जो अर्थ लिया जावे वह वाक्छल कहलावेगा—साधारण रीति पर नव शब्द का अर्थ नया होता है इस लिये ९ अंक का अर्थ सम्भव नहीं है गौतम ऋषि ने जाति व मुक्ति और आकृति इन्हीं का भली भांति विचार किया है । जाति का लक्षण यह है कि-

समानप्रसवात्मिका जातिः ।

[देखो-गौतम का न्यायशास्त्र अध्याय १
आह्निक १ सूत्र ५६]

इस सूत्र के अनुसार जाति शब्द का उच्चारण इस प्रकार होना चाहिये कि मनुष्य जाति, पशु जाति आदि और जाति का अर्थ प्रकार भेद का करके एक ही वस्तु के भेद का किया जाता है उसको गौतम के सूत्र से कोई सहायता नहीं मिलती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विचार योगशास्त्र में किया है मीमांसा शास्त्र में धर्म और धर्मी के लक्षण कहे हैं। कणाद ऋषि के वैशेषिक शास्त्र में द्रव्य और गुण का यथार्थ विचार कियाहै। गौतम के शास्त्र में यह वर्णन कियाहै कि प्रमाण और प्रमेय पर क्योंकर विचार करना चाहिये। इन तीनों मीमांसा और वैशेषिक और न्यायशास्त्रोंने मानो श्रवण, मननके साधन का ही द्वारा बनाया है अब श्रवण, मनन के आगे एक ही सीढ़ी है अर्थात् साक्षात्कार करना। इस विषय पर योगशास्त्र में वर्णन किया गयाहै कि चित्त की वृत्तियों को विरोध करने से और अविद्या की निवृत्ति से ज्ञान बढ़ता है परन्तु वह

निवृत्ति किस प्रकार की होनी चाहिये इस पर विचार होते हुए विदित होता है कि सब बाहरी वस्तुओं का ज्ञान होते हुए भी मन बाहर खिंचा हुआ न रहे। बाहरी ज्ञान वर्त्तमान होते हुए अन्तर्मुख स्थिर रहना इसी का नाम निवृत्ति है। जैसे कोई एक नदी का बहाव बन्द कर देवे तो पानी पूर्णवेग से भरजाता है—इसी प्रकार बाहरी विषयों से चित्त को हटाने में स्वयं वृत्ति उत्पन्न होजाती है। यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है कि बाहरी विषयों में आसक्त न रहे—किन्तु एकान्त स्थान में बैठ कर समाधि लगाना चाहिये। कारण यह है कि एकान्त में बैठने से चित्त निवृत्ति होता है परन्तु नित्य प्रति एकान्त में ही रहना अच्छा नहीं है। क्योंकि मुख्य कर एकान्त में रहनेसे भी ज्ञान नहीं होता—सत्संग से ही ज्ञान प्राप्त होता है। योगशास्त्र का उपाय ईश्वर के साक्षात् करने पर है।

तद्द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

[देखो-योगशास्त्र पाद १ सूत्र ३]

इस में द्रष्टा से अभिप्राय ईश्वर है योगी-विभूति को

शुद्ध करता है। यह योगशास्त्र में लिखा है। अणिमा आदि विभूतियां हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती है वह ठीक नहीं है। अणिमा का अर्थ यह है कि छोटे से छोटी वस्तु को विशेष सूक्ष्म होकर जानने वाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषतर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है—उसे गरिमा कहते हैं। ये मन के धर्म हैं शरीर में इनकी शक्ति नहीं है इस तरह पर श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार होजाने से निस्सन्देह स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होजाता है।

महर्षि पतंजलि जी कहते हैं कि—

तत्र ध्यानजं ज्ञानं निरामयमातत्र ऋतंभरोयज्ञः

अब योग के आठ अंग कहे गयेहैं—१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान, ८ समाधि। यम पांच हैं—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ आस्तिक्य, ४ ब्रह्मचर्य, ५ अपरिग्रह इनका और नियमों का वर्णन पहले भलीभांति किया है।

स्थिरसुखमासनम्।

यह आसन का लक्षण कहाहै । आसन वही है कि जिसमें सुख से बैठ कर ईश्वर से योग होसके तो फिर नये लोगों का यह कहना कि यह चौरासी लाख आसनों वाला भानमती का तमाशा ठीक है-कैसे मान लिया जावे । इस तरह पर प्राणायाम के विषय में तमाशा बन रहा है । प्राणायाम की यथार्थ प्रशंसा प्रथम ही वर्णन कर चुके हैं । नासिका और मुख बांधकर प्राणों की रुकावट करनेसे कुम्भक होता तो जो लोग फांसी पर चढ़ते हैं उन्हीं को कुम्भक का ठीक साधन समझना चाहिये यथार्थ स्वरूप कुम्भक का यह है कि वायु को बाहर की बाहर रोक रखना । बाहर निकलने में विशेष उपाय करने से रेचक होता है । भीतर के भीतर प्राणों को रखने से पूरक होता है यह प्राणायाम का विधान है ।

अब हठ योग का विधान वर्णन किया जाता है हठ योग में वस्ति उसे कहते हैं कि गुदा के रास्ते से पानी चढ़ा कर सफाई करना टकटकी लगाकर इस तरह पर देखने को कि जिसमें पलक न झपके त्राटक कहते हैं । नासिका में सूत्र डालकर मुख से निकालने को नेति

कहते हैं। मलमल का चार अंगुल चौड़ा और १६ हाथ लेकर ८० हाथ तक लम्बा कपड़ा मुख के रास्ते पेट में डाल कर फिर बाहर निकालने को धौती कहते हैं यह बाजीगरी का खेल है इनसे कष्ट निवृत्ति पाकर योग प्राप्त कर सकते होंगे। यह हठवाले ही जानें कि इन कामों में बीमारियां पैदा होती हैं। अब प्राणायाम का विचार किया जाता है—प्राण अर्थात् श्वास और आयाम अर्थात् लम्बाई—तात्पर्य श्वास की लम्बाई को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम का प्रयोजन यह है कि बहुत देर तक श्वास रोकी जावे। बहुत समय तक प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र होजाता है। प्राणायाम का मुख्य लाभ यह है कि यदि योगशास्त्र के अनुकूल भीतर और बाहर छोड़े तो शरीर की नीरोगता की उन्नति होती है। ईश्वर में लौ लगाने को प्रत्याहार कहते हैं। मुख्य २ स्थानों में चित्त को स्थिर करने का नाम धारणा है। आत्मा मन और इन्द्रियों को किसी वस्तु में लगाकर उस वस्तु पर मनन करने का नाम ध्यान है और ईश्वर में लय होने का नाम समाधि है। जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एकत्र होजावें तो उसे संयम कहते हैं। इसी प्रकार पतञ्जलि मुनि

ने उपासना की युक्ति बतलाई है और मुक्ति के अनेक साधनों का यथार्थ वर्णन किया है। परमेश्वर में चित्त लगाने की शिक्षा करते हुये कहीं भी यह नहीं बतलाया गया कि मूर्तिपूजा भी कोई साधन है-इस लिये उपासना के वर्णन में कहीं भी मूर्तिपूजा का सहारा नहीं मिलता है।

अब यह देखना है कि सांख्यशास्त्र की प्रवृत्ति कैसे हुई। सांख्यशास्त्र का मूल मुख्यकर पदार्थों की गिन्ती करने के वास्ते है। सांख्य के कर्त्ता कपिलदेवजी कहते हैं।

न वयं षट्पदार्थवादिनोवैशेषिकादिवत्।

मैं वैशेषिक आदि के अनुसार छः पदार्थों को मानने वाला नहीं हूं और फिर बहुत से विवाद के पीछे यह निश्चय करते हैं कि अवस्तु के अभाव से विवेक होता है। अब इस पर यह उत्तर ठहरता है कि इस सांख्यशास्त्र व अन्य शास्त्रों के साथ विरुद्ध नहीं तो क्या है परन्तु यह विरुद्धता केवल बाह्यदृष्टि से ही विदित होती है। किन्तु अन्त में सांख्यकर्त्ता उसी निर्णय को पहुंचता है जो कि अन्य शास्त्रकारों का सिद्धान्त है क्योंकि सांख्य

कर्त्ता अविवेक का चित्र खींचता है और अज्ञान, अविद्या, भ्रम और अविवेक सब एकही अर्थ में आते हैं।

अन्य देशों के नवीन विद्वान् लोग तत्व शब्द की प्रशंसा यह करते हैं कि जो मुफ़रद हो अर्थात् आर्य शास्त्रकारों को पञ्चभूत (अग्नि, पृथिवी, जल, वायु, आकाश) मानने पर निषेध करते हैं परन्तु यह दोष कदापि नहीं आसक्ता क्योंकि गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन पांचों सिफ्तों के मौसूफों को जुदे २ नाम दिये गये हैं और वे पञ्चमहाभूत कहलाते हैं। सांख्यशास्त्र में २५ पदार्थों का निरूपण किया गया है जो कि इस शास्त्र के अवलोकन से विदित होसक्ता है।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृतिःप्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यःस्थूलभूतोस्ति पुरुष इति पञ्चविंशतिगणः।

आचार्य ने अलंकारशास्त्र बनाये हैं-जिन पर कि भाष्य भी हुये हैं, अर्थात् विस्तार से लिखा है। इस आर्य

ग्रन्थ में गंदे अधर्म की रीतियों पर रुचि को बढ़ाने वाले रस कुछ भी नहीं हैं। इनका सुकाविद, नवीन अलंकार ग्रन्थों के साथ कीजिये जिनमें कि गन्दापन और झूठे शृंगार रस भरेपड़े हैं।

नालिंगिता प्रेमभरेण नारी

वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्।

अर्थात् जिस पुरुष ने प्रेम में मस्त होकर स्त्री को गले में नहीं लिपटाया उसका जन्म निष्फल ही गया और फिर इस तरह के बेढंगे अलंकार हैं जैसे हे स्त्री! तेरा मुख चन्द्रमा के समान है इत्यादि, ऐसे दीवानापन के अलंकार में मग्न होकर क्या होसकता है। किन्तु एक पत्नीव्रत करके जो पुरुष गृहस्थाश्रमी रहेंगे वेही ब्रह्मचर्य्य धारण करने के योग्य होंगे।

छठा दर्शन वेदान्त 'उत्तरमीमांसा' है जिसके कर्त्ता व्यास जी हैं। उन्हों ने ब्रह्म को कारण बतलाकर जगत् को कार्य कहा है और कार्य, कारण इन दोनों पदार्थों की जांच की है। व्यास जी ने पहले सृष्टि का वर्णन किया

है। अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार के प्रलय वर्णन कि गये हैं अर्थात् वैशेषिक में अप्रमेय मण्डल तक, गौतम ने परमाणुओं तक और सांख्यकर्त्ता ने प्रकृति तक वर्णन किये हैं। परन्तु वेदांत में महाप्रलय का वर्णन किया है। इस महाप्रलय में परमात्मा और उसकी सामर्थ्य ही स्थित रहती है। इस तरह पर दूर दृष्टि बुद्धि से देखा जावे तो छहोंने अपनी रीति पर वर्णन करते हैं—इनमें विरुद्धता किसी तरह की भी नहीं है अब मूर्तिपूजा बुतपरस्ती पर फिर किस प्रकार विचार किया जाता है।

पराशर और आश्वलायन गृह्यसूत्रों में मूर्त्तिपूजा का नाम भी नहीं है और कल्पसूत्र में भी मूर्त्तिपूजा का वर्णन नहीं है। इन ग्रन्थों पर परिशिष्ट रचे गये हैं उन में चाहे मूर्त्तिपूजा होवे। परिशिष्ट का स्पष्टार्थ क्या है यह सब विद्वान् लोग जानते हैं कि शास्त्रों की दृष्टि से मूर्त्ति-पूजा सिद्ध नहीं होती। अब फिर इतिहास का कुछ वर्णन किया जाता है। राजा शन्तनु ने सत्यवती से विवाह किया उससे दो पुत्र चित्रांगद और चित्रवीर्य उत्पन्न हुये। तत्प-श्चात् भीष्मपितामह काशी के राजासे तीन कन्यायें लाया—

उनमें से अम्बा का विवाह शाल्व से हुआ अम्बिका और अम्बालिका दोनों ने चित्रांगद और चित्रवीर्य के साथ विवाह किया। तब व्यास के साथ नियोग होने से पाण्डु, धृतराष्ट्र और दासी के पुत्र विदुर पैदा हुये। पाण्डवों ने दो स्त्रियों के साथ विवाह किया उनके कुन्ती और माद्री थी। माद्री ईरान के राजा की पुत्री थी। धृतराष्ट्र की स्त्री गान्धारी कन्धार की रहनेवाली थी। उसका भाई शकुनि कन्धारी का राजा था। दुर्योधन के साथ हस्तिनापुर में रहता था। कुन्ती और माद्री दोनों ने पुत्र के लिये नियोग किया था। उनसे धर्म (युधिष्ठिर) भीम और अर्जुन उत्पन्न हुये और इसी प्रकार अश्विनीकुमार से नाम नियोग करने पर नकुल और सहदेव उत्पन्न हुये। इसमें इन्द्र वायु के नाम समझना चाहिये। स्पष्ट विदित है कि वायु के संसर्ग से पुत्र उत्पन्न नहीं होसक्ता है। धृतराष्ट्र के यहां एकही गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न हुये। इन सब प्राचीन आर्य लोगों में स्वयंवर होता था (अर्थात् कन्या स्वयं अपना वर पसन्द करती थी) किन्तु इस समय के अनुसार विवाह नहीं होता था। मारवाड़ी लोगों ने इस पर और विशेषता की है कि वे पुत्र और पुत्री का उसी

समय नाता कर देते हैं जब कि दोनों गर्भ में ही होते हैं यह कैसी फ़ज़ूलख़र्ची की बात है। विवाह के समय पर धर्म, अर्थ और काम के परस्पर निर्वाह के लिये निर्णय होता है—वह निर्णय बिना पुत्र और पुत्री के वर्त्तमान हुये कैसे होसक्ता है—प्राचीन आर्यों में यह दृढ़ रीति थी कि प्रत्येक मनुष्य विद्याभ्यास करे-जब तक कि विद्या के भूषण से भूषित नहीं होते थे तब तक पुरुष स्त्री को विवाह करने की आज्ञा राजसभा से नहीं मिलती थी।

जनमेजय के राज्य तक चारों वर्णों का परस्पर में बर्ताव होता था और सामाजिक नियम, राजसभा, धर्म सभा, विद्या सभा के प्रबन्ध में रीत्यनुसार चलते थे यह बात कि चारों वर्णों का परस्पर में बर्ताव कैसा था—आप लोगों को महाभारत के राजसूय पर्व और अश्वमेध पर्व के देखने से विदित हो जावेगा मनुजी ने कहा है कि प्राचीन समय में स्त्रियों और पुरुषों के हक बराबर थे। इस समय में तो सब प्रबन्धही उलटा होगया है। अब पानका तिनुका तोड़ने में देर लगती है। परन्तु हमारे धर्म टूटने में देर नहीं लगती है। चोटी में गांठ न देंगे तो धर्म गया। अँगरखा लम्बा पहना गया तो धर्म गया। खाने

पीने में तो बड़ा भारी बखेड़ा खड़ा हो गया है । इन खाने पीने की वस्तुओं ने तो वीरों को कायर कर दिया और चौका लगाकर बैठे २ अपनी सारी बड़ाई पर चौका पड़ गया । प्राचीन समय में सब क्षत्रिय राजा और ब्राह्मण, ऋषि आदि एक ही सभा में भोजन किया करते थे। इस समय इस प्रकार की रीति सिक्खों में रणजीतसिंह के समय तक थी । कुरीतियाँ से कभी भी जन्म का फल पूरा नहीं होता है। ब्राह्मण लोग छूतछात का ढोंग मचाते हैं। परन्तु यह ढोंग ढोंग शक्कर आदि पदार्थ भक्षण करते समय कहां जाता है । यदि यह कहो कि केवल दृष्टि ही दोष होता तो जो वस्तु दिखलाई न दे क्या उस का दोष नहीं है। क्या भूत से यदि भांग खा ली जावे तो नशा न करेगी ?

बड़ी बड़ी बिरादरियों के अन्दर बहुतसी फिर्का-बन्दियों के कारण बिरादरियों के सम्बन्ध में खर्च बहुत बढ़ता जाता है चाहे कोई मरे चाहे किसी का विवाह हो। गुजरात देश में दोनों मौकों पर बिरादरी को खिलाना पड़ता है ऐसा खर्च किस काम आवेगा एक का पल्ला

और भूखंडों का पेट भरना—मरे हुये पुरुष के सम्बन्धी पुत्रादिकों को क़र्ज़ में डुबाना इस से बढ़कर दीवालापन और क्या हो सकता है। इन बिरादरियों के झगड़ों और अनेक कारणों से युद्ध में कैसी कैसी रुकावटें होती हैं। एक बात कहता हूँ सुनने के योग्य है—पंजाब के राजा रणजीतसिंह का हरीसिंह (नलवा) नामी एक सरदार था। उस ने क़ाबिल क़न्धार पर चढ़ाई की और उन पर विजय पाकर निवास किया। मुसलमानों ने यह समझकर कि हिन्दू चोरी हैं। इनका सामान जो आ रहा था उस को रास्ते में रोक दिया। दोपहर के समय तक जब कुछ न मिला तो हरीसिंह के सिपाही भूख से व्याकुल होकर घबड़ा गये और सब मिलकर हरीसिंह के पास गये। इस समय हरीसिंह ने मुसलमानों के उत्तर में उलटी तदबीर निकाली और सिपाहियों को आज्ञा देदी कि मुसलमानों का कुल खाना इकट्ठा करो यह आज्ञा पाकर सिक्खों की सेना ने धावा कर दिया और जो खाना कि मुसलमान लोगों ने अपने लिये तैयार किया था वह सब लूट लाये और उस को हरीसिंह के पास ढेर लगा दिया और

फिर हरीसिंह ने कहा कि सुअर का एक दांत ले आओ वे दांत ले आये वह सुअर का दांत हरीसिंह ने उस भोजन के ढेर के चारों तरफ़ फेर दिया और सिपाहियों को कहा कि अब यह सारा अन्न शुद्ध हो गया। अब इस के खाने में हिन्दुओं को कुछ भी दोष नहीं है ऐसा कहकर आप ने भोजन किया जिस पर सिपाहियों ने पेट भर कर अपने कष्ट को दूर किया। ऐ सुनने वालों! क्या चौके के बखेड़े में तुम अपना धर्म स्थित रख सकते हो इस पर विचार करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

बारहवां व्याख्यान।

इतिहास।

पूर्व व्याख्यानों में आर्य लोगों का इतिहास चित्राङ्गद और चित्रवीर्य तक पहुँचाया गया था। प्राचीन आर्य लोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे,

बालविवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था। क्योंकि आर्य इतिहासों में प्रायः स्वयम्बर का ही वर्णन आता है। विधवा विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था। द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में नियोग का प्रचार था। विधवा विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवाविवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है। पर यह अवश्य कहूंगा कि ईश्वरके समीप स्त्री पुरुष दोनों बराबर हैं; क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दीजावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे। प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचार शील और न्यायी होते थे, आज कल उनकी सन्तान अनार्य होगई है। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियां करसकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं? या यह अधर्म नहीं?

प्राचीन आर्य लोगों में गार्गी, मैत्रेयी आदि कैसी कैसी रत्नरूपी स्त्रियां होगई हैं। आज कल स्त्री को विद्या पढ़ने

का अधिकार नहीं, वह शूद्र के समान है। यदि स्त्रियां पढ़ी लिखी होतीं तो इन पंडितों की बड़बड़ाहटका खण्डन करके एक घड़ी में उनका मुँह बन्द करदेतीं। यदि इस समय हम लोगों में बालविवाह प्रचलित न होता तो विधवाओं की संख्या कभी इतनी न होती और न इतने गर्भपात और भ्रूण हत्या होतीं और न इतनी रोगों की अधिकता होती। प्राचीन समय में यदि कोई धनाढ्य पुरुष निःसन्तान होता तो आर्यसभा की व्यवस्था से उस का दायाद (वारिस) नियत होता था। विधवा स्त्री होती तो उसको नियोग की आज्ञा दीजाती थी और प्रायः विधवायें ब्रह्मचर्य को पालन करती थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में प्रायःनियोग से निर्वाह होता था। यहां कोई यह प्रश्न करेंगे कि नियोग और पुनर्विवाह में क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि पुनर्विवाह से स्त्री पुरुष का सम्बन्ध जन्म भर के लिये होता है और जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे द्वितीय पति के समझे जातेहैं। विपरीत इस के नियोग का सम्बन्ध एक या दो सन्तान उत्पन्न होने तक रहता है

इस के बाद स्त्री पुरुष का परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। वे एक या दो सन्तान पूर्वपति के ही समझे जाते हैं और उसी का नाम चलाते हैं। आर्य लोगों में विधवा विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा है। क्योंकि यदि विधवाविवाह की आज्ञा मिल जावे तो स्त्रियां अपने पतियों को विष देकर मारना आरम्भ करदें और यदि पहले पति की जायदाद लेकर विधवा स्त्री दूसरा पति करलेगी फिर तो उसमें और उसके पूर्व पति के सम्बधियों में बहुत से बखेड़े उठेंगे। जिस विधवा का विवाह होता था, वह शूद्रों में गिनी जाती थी।

विवाह में परस्पर स्त्री पुरुषों की यह प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन चित्त आदि एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध कोई काम न करेंगे, बचपन में विवाह होने से भला लड़का लड़की इन बातों को क्या जान सकते हैं और उन मन्त्रों का अर्थ करके कोई समझाता भी नहीं है। पण्डित लोग कहते हैं कि केवल मन्त्रके सुनने से ही पुण्य होता है। चाहे मन्त्र बोलनेवाला उसका अर्थ समझे या न समझे। ब्राह्मण को दक्षिणा देदी कि सब

विधान ठीक ठीक होगया । वाहर ! तुम्हारा सामाजिक प्रबन्ध । इस अन्धपरम्परा को देखकर तो मानना पड़ता है कि इस से विधवाविवाह सब प्रकार अच्छा है ।

यह बात कि "पहिले तीन वर्णों में नियोग और शूद्रों में विधवाविवाह" प्राचीन आर्य लोगों के विरुद्ध नहीं है । इसकी पुष्टि में ऋग्वेद मंडल १० सूत्र ४० का मन्त्र २ देखने योग्य है । प्राचीन समय में गृहस्थ लोग अपनी स्त्रियों को अपने साथ रक्खा करते थे । यही विषय इस मन्त्र में वर्णन किया गया है । कोई २ पंडित इस मन्त्र में "देवर" शब्द के अर्थ पति के छोटे भाई के करते हैं । यह ठीक नहीं, क्योंकि निरुक्त में दूसरे पति का नाम देवर बतलाया है । इसी के सम्बन्ध में ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १८ का मन्त्र ८ भी द्रष्टव्य है । इसी प्रसंग में एक बात और विज्ञापनीय है । वह यह है कि किन्हीं विशेष दशाओं में पति के जीते जी भी नियोग की आज्ञा मिलती थी । नियोग १० वार करने की आज्ञा थी । इस में ऋग्वेद मंडल १० सूक्त ८५ के मन्त्र ४० का प्रमाण है । ऋग्वेद के इसी मंडल के इसी सूक्त के मन्त्र ४५ का

अर्थ भी आज कल के पण्डित मन माना करते हैं। जोकि मानने योग्य नहीं।

महाभारत में व्यास जी ने विचित्रवीर्य की दोनों विधवा स्त्रियों से नियोग किया था। मनुजी ने भी नियोग की आज्ञा दी है। प्राचीन आर्य लोगों में पति के जीते जी भी नियोग होता था, इस की पुष्टि में महाभारत में लिखे हुये बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। व्यास जी बड़े पण्डित और धर्मात्मा थे, उन्हों ने चित्राङ्गद चित्रवीर्य की स्त्रियों से नियोग किया और इन में से एक के गर्भ से धृतराष्ट्र और दूसरी की कुक्षि से पाण्डु उत्पन्न हुये और यह पहिले ही वर्णन हो चुका है कि पाण्डु की विद्यमानता में ही उसकी स्त्री ने दूसरे पुरुषों के साथ नियोग किया था। इस प्रकार नियोग का उस समय प्रचार था। पुनर्विवाह की अधिक आवश्यकता ही नहीं होती थी। अब इस समय में नियोग और पुनर्विवाह दोनों के बन्द होने से आज कल के आर्यलोगों में जो २ भ्रष्टाचार फैला हुआ है, वह आप लोग देखही रहे हैं। हज़ारों गर्भ गिराये जाते हैं भ्रूणहत्यायें होती हैं। एक

गर्भ गिराने से एक ब्रह्महत्या का पाप होता है। सोचो कि इस देश में कितनी ब्रह्महत्यायें प्रतिदिन होती हैं। क्या कोई उनकी गणना कर सकता है? इन सब पापों का बोझ हमारे शिर पर है।

देखो! प्राचीन सामाजिक प्रबन्ध के बिगड़ने से हमारे देश की कैसी दुर्दशा हो रही है। वेदमार्ग को एक तरफ ढकेल कर पुष्टिमार्ग चमक रहा है, महन्तों और साधुओं के राजसी ठाट लगे हुये हैं। देवालयों, मठों और मन्दिरों में पाप की भरमार होरही है। न जाने कितने गर्भ गिराये जाते होंगे। यह पाप, दुराचार और अनर्थ का समय बन रहा है। जब तक स्वार्थी और लम्पट लोग लोकाचार की लीक बनाते रहेंगे और साधारण लोग अन्धपरम्परा से उसपर चलते रहेंगे, तब तक देश का कल्याण नहीं हो सकता। धर्म के विषय में लोग परम्परा की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं, परन्तु क्या सांसारिक विषयों में भी ऐसा ही है। क्या यदि बाप दरिद्र हो तो परम्परा के अभिमान से बेटा भी दरिद्र होगा। यदि बाप अन्धा हो तो क्या बेटे को भी परम्परा के लिये आँखें फोड़ लेनी चाहिये।

वेदबाह्य रीतियों को हमें परम्परा की पदवी कभी नहीं देनी चाहिये। सदुपदेशपूर्ण वेदों और आर्ष ग्रन्थों में जिस सच्ची परम्परा का विधान किया गया है, उसका पालन करना चाहिये। अस्तु, अब फिर इतिहास का वर्णन किया जाता है।

राजा धृतराष्ट्र स्वभाव से ही कपटी था और पाण्डु धर्मात्मा था। पाण्डु की एक रानी माद्री सती होगई थी। सती होने के लिये वेद की आज्ञा नहीं है। किन्तु सती होने की कुरीति पहिले पहिल पाण्डु राजा के समय से चली। कौरव और पांडवों ने उत्तम शिक्षा प्राप्त की। धृतराष्ट्र ने अपने और पांडु के पुत्रों को द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के सुपुर्द कर दिया। उस समय ब्राह्मण लोग युद्धविद्या के भी आचार्य होते थे। अर्जुन ने धनुर्वेद में सब से अधिक अभ्यास किया। इस लिये युद्धविद्या में उसकी बड़ी ख्याति हो गई है। अर्जुन का समकक्ष कौरवों में केवल कर्णही था। पर कर्ण सूतपुत्र अर्थात् सारथि का बेटा था। इस लिये अर्जुन ने कर्ण की अवज्ञा की थी। परन्तु इस अवज्ञा से लाभ उठाने के लिये दुर्योधन

ने कर्ण को बंगाले का राज्य देकर उसे क्षत्रिय वर्ण का अधिकार देदिया था। इस प्रकार अनुचित अभिमान से इस राजमंडल में द्वेष की आग भड़की। इसी द्वेष से अपने आर्यावर्त की सारी दुर्दशा हुई। वह वर्णन करने के योग्य नहीं।

उस समय धृतराष्ट्र के पास एक नीच, छिछोरा, कामुक कनक नामी एक शाक्ती रहता था। उसने पाण्डवों के विरुद्ध बहुत सी बातें कहकर धृतराष्ट्र का मन उनसे फेर दिया। फिर इसी दुष्ट शाक्ती की सलाह से पाण्डवों को भस्म करने के लिये एक लाख का घर बनाया गया। राजसभा का प्रबन्ध तो पहिले ही बिगड़ चुका था। उस पर शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन और कनकशाक्ती की चण्डाल चौकड़ी जमगई। इस चण्डाल चौकड़ी की करतूत से राज्य की जैसी दुर्दशा हुई और उसका जैसा भयानक परिणाम हुवा, उसका सविस्तर वृत्तान्त महाभारत में विद्यमान है।

विदुर को दुर्योधन की चण्डाल चौकड़ी के मनसूबे मालूम थे, लाख के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को

बर्बर देश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा धर्मर (युधिष्ठिर) को आती थी, जिसके कारण पांडव लाख घर में जलने से बच गये थे।

देखो विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुतसी भाषाओं के जानने वाले थे। वे पश्चिम की बहुतसी भाषाओं को बोल सकते थे। आजकल के शास्त्री महाराजों से यदि कहो कि यावनी और म्लेच्छ भाषा सीखने में कोई दोष नहीं तो वे कहने लगते हैं—

नवक्षेद्यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिनाताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्॥

यदि प्राण गले तक आजावें अर्थात् मृत्यु का समय तक क्यों न आजावे परन्तु यावनी भाषा को नहीं बोलना चाहिये और मत्त हाथी भी सामने से आता हो तो जैन मन्दिर में कदापि आश्रय न लेवे।

अर्जुन की मत्स्यवेधविद्या में बड़ी प्रशंसा की जाती है। परन्तु यह बात मत समझो कि हमारे देश में अब ऐसे योग्य और शूर पुरुष रहेही नहीं। हमने स्वयं राजपूत

लोगों को मत्स्यवेध से अधिकतर कठिन काम करते हुये देखा है।

कर्ण का जो पाण्डवों ने अपमान किया था, इसलिये वह द्रौपदी से छल करने पर उद्यत हुवा। यह कथा सब जानते हैं। राजसभा ने यह निर्णय किया कि राजा युधिष्ठिर होना चाहिये। परन्तु धृतराष्ट्र ने अत्याचार से छीन लिया था। इसके पश्चात् जो २ कष्ट पाण्डवों को झेलने पड़े, उनको सब जानते हैं। फिर जब पाण्डवों का भाग्योदय हुआ, तब उन्होंने राजसूय यज्ञ रचा। मय नाम एक बड़ा शिल्पी था, उसने एक विचित्र सभा बनाई (प्राचीन आर्य लोगों की शिल्पविद्या का इतिहास सुनने योग्य है) इस राजसूय यज्ञ में सहस्रों मनुष्य आये थे मय ने ऐसी रचना चातुरी की थी कि स्थल में जल का सन्देह होता था, दुर्योधन ने इसे सचमुच जल समझ कर अपने कपड़े उठाकर समेट लिये। यह देखकर भीमसेन मुस्कुराया और अक्खड़पन से यह कह दिया कि अन्धेके* के अन्धा ही पैदा हुवा। दुर्योधन खिसियाना हुआ और कनक

* दुर्योधन का पिता धृतराष्ट्र अन्धा था।

शाली ने बात का बतंगड़ बनाकर उसे और भी भड़का दिया। उस समय अर्जुन और कृष्ण ने दुर्योधन को समझा बुझा दिया। तदनन्तर एक बड़ा भोज हुवा, जिसमें ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबने एक पंक्ति में बैठकर भोजन किया।

इसके बाद छल से द्यूतक्रीड़ा में युधिष्ठिर आदि को फँसा कर वनवास और अज्ञातवास दिया गया। विराट राजा के नगर में रहते हुये अर्जुन ने विराट राजा की कन्या उत्तरानाम्नी को नृत्यकला की शिक्षा दी थी। इससे प्रकट है कि प्राचीन समय में राजकुमारियां भी गानविद्या और नृत्यकला सीखती थीं। चक्रवर्ती राज्य का नाश उस समय तक नहीं होता, जब तक कि आपस में फूट न हो। कुरुवंश में फूट पैदा होगई और स्वार्थ और विद्रोहबुद्धि ने लोगों को अन्धा बना दिया। इसके लिये एकही उदाहरण पर्याप्त है। भीष्म जैसे विद्वान और धर्मवादी पुरुष पक्षपात के रोग में ग्रस्त होगये। उनको उचित तो यह था कि वे मध्यस्थ होकर दोनों पक्षों का न्याय करते और अपराधियों और अन्यायियों

को दण्ड दिलाते। ऐसा न करके उन्होंने अन्यायियों का पक्ष करके कुरुवंश का नाश होने दिया। देखिये भीष्म क्या कहता है—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्या महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

"धन का मनुष्य दास है, धन किसी का दास नहीं। ऐसा मानकर मैं स्वार्थ में बँधा हुआ कौरवों के पक्ष में हूँ।"

इस प्रकार बुद्धिभ्रष्ट होने से और द्वेष बढ़ने से भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि कौरव एक तरफ हुये और पाण्डव दूसरी तरफ हुये और बड़ा भारी युद्ध हुआ। इस युद्ध में तीन मनुष्य कौरवों की ओर के अर्थात् १ कृपाचार्य, २ कृतवर्मा ३ सात्यकि और ४ पाण्डवों की ओर के अर्थात् ५ पाण्डव और छठे कृष्ण जीवित रहे थे, शेष सब का नाश होगया। इस युद्ध से प्राचीन आर्य लोगों का वैभव सदा के लिये अस्त हो गया। इस सब अनर्थ का कारण केवल यह था कि सम्मति देने

का काम नीच और क्षुद्र लोगों को सौंपा गया था। ऐसे अयोग्य जन-नेता और परामर्श देने वाले बन गये। वहाँ शकुनि जैसे संकीर्ण हृदय और क्षुद्रमनस्क जनों की सम्मति से राज्यकार्य चलने लगा। कनकशास्त्री महाराज धर्माधर्म का निर्णय करने लगे। वहाँ यदि घर में फूट उत्पन्न होकर घरवालों का विनाश हो गया तो आश्चर्य ही क्या है। इसी प्रकार जिस देश में केवल सचाई के अभिमान से मार्टिन लूथर जैसे उदार चेता पुरुषों ने सामयिक लोगों के विरुद्ध होते हुये भी पोप के अत्याचार के विरुद्ध उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया और अपने प्राण तक न्यौछावर करने के लिये उद्यत होगये। उस देश में यदि ऐश्वर्य और अभ्युदय का डंका बजा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस रीति पर कुरुकुल का तो नाश हो गया, अब कृष्ण जी द्वारका में राज्य करते थे, वहाँ उस समय यादवों ने बड़ी उन्नति की थी। दौर्भाग्य से इन में भी प्रमाद और विषयासक्ति के कारण आपस में फूट पड़ गई, जिस से सब लड़ मर कर अल्पकाल में ही यादवकुल

का नाश हो गया । पाठक ! प्रमाद का फल देखिये बल-देव मद्य पीने लगा और डूबकर मरगया । सात्यकि सांप से लड़ा । ऐसे मूर्खता के काम जहां होने लगे वहां श्रीकृष्ण जैसे सत्पुरुषों की बात कौन सुने । इन प्राचीन आर्यों के युद्ध के पश्चात् केवल इन की स्त्रियां ही शेष रहगई थीं । इन में अभिमन्यु का पुत्र एक परीक्षित भी बचा था, वह कुछ विक्षिप्त सा था, उस के आर्ष ग्रन्थ समझ में नहीं आते थे, इसी कारण उस के समय में कुछ कुछ पुराणों का प्रचार हो चला था, उस का पुत्र जन्मेजय हुआ और उसके पीछे बभ्रुनाथ ने राज्य किया इतने समय में सम्पूर्ण वैभव का नाश होगया । राजसभा, धर्म सभा और विद्यासभा तीनों डूबगई । केवल एक राजा की इच्छानुसार सब राज्यकार्य होने लगा । विद्वान् और सच्चरित्रों को, जो विधि निषेध की मीमांसा और व्यवस्था करने का अधिकार था, वह दूर होगया । व्यास, जैमिनि और वैशम्पायन आदि महर्षि न रहे । चक्रवर्ती राज्य नष्ट होकर यत्र तत्र माण्डलिक राज्य स्थापित हो गये । ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अभिमान बढ़ता गया ।

ब्रह्मवाक्यप्रमाणम् । ब्राह्मणास्तु भूदेवाः ।

इस प्रकार की उलटी समझ लोगों में फैलगई जिससे मनुष्य ग्रन्थपरम्परा के दास बनगये । और भी देखिये ब्राह्मणों की लीला—

पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि सागरे ।
सागरे यानि तीर्थानि पदे विप्रस्य दक्षिणे ॥

पृथिवी में जितने तीर्थ हैं, वे सब समुद्र में आजाते हैं और समुद्र में जितने तीर्थ हैं, वे सब ब्राह्मण के दाहिने पैर में हैं । ऐसे लोगों के जाल में भोले भाले लोग फँस गये । जब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते हैं । तब इन्हों ने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्तिपूजन आदि वेद विरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके । सर्व-साधारण ब्राह्मणों से विमुख न होजावें इस लिये ऐसे ऐसे श्लोक गढ़े गये ।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणं दैवतं महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥
स्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख वह साक्षात् देवता है ! प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनायें करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्व के वाक्य मिला दिये। यथा—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमंदैवतंहितत् ॥

यदि दुष्टाचरण वाले ब्राह्मण की कोई निन्दा करता तो उस को ब्रह्मविरोधी कहकर उसकी हड्डी २ निकाल लेते थे । निदान ब्राह्मणों को सब प्रकार के दण्ड और शासन से मुक्त कर देने के कारण सारी बुराइयां इन्हीं में घर कर गईं। सदाचार विलुप्त होगया । मूर्खता और

अत्याचार बढ़ गया। मूर्खता ने देश में अपना डेरा डण्डा जमा दिया। जब देश की ऐसी दुर्दशा हुई, तब ग़ाज़ीपुर नगर में एक राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ (जो पीछे जाकर बुद्ध बना) उसने वेदों की निन्दा करके ब्राह्मणों के अत्याचार से दूसरे लोगों को मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। इस के उपदेश से लक्षों मनुष्य बौद्ध धर्मानुयायी हो गये। बुद्ध और उस के पश्चात् जैन मत के फैल जाने से निरीश्वरवाद बढ़ गया, ईश्वर की पूजा के स्थान में मूर्त्तिपूजा प्रचलित हुई। बौद्ध और जैन मत में ईश्वर को नहीं मानते, किन्तु वे उन सिद्धों और तीर्थंकरों की भक्ति वा उपासना करना सिखलाते हैं, जो उनकी दृष्टि में महात्मा वा सत्पुरुष हुये हैं। यही कारण है कि बौद्ध वा जैन लोग अपने तीर्थंकरों की मूर्त्तियां बनाकर रखते हैं। पहले पारसनाथ आदि तीर्थंकरों की मूर्त्तियां बनाकर जैनों ने उनका पूजना आरम्भ किया। फिर उनकी देखा देखी पौराणिक लोग भी अपने इष्टदेवों की मूर्त्तियां बनाने लगे। इस प्रकार वेदों का आत्मवाद और कि ईश्वर की पूजा इस देश से उठ गई। लोग मन्दिरों

में जाकर मूर्त्तियों की उपासना करने लगे और इसी को धर्म का मुख्य अंग मानने लगे। जैनी लोगों में कुछ सहिष्णुता पाई जाती है। परन्तु इन्हों ने वेदमार्ग को विध्वस्त करने के लिये कोई उपाय उठा न रक्खा। वेदों पर बड़े बड़े आक्षेप किये। "वेद में अश्लील गाथायें हैं, वेद में हिंसा है, वेद में बहुदेववाद है और वेद में अधिकतर ब्राह्मणों का और कुछ २ क्षत्रिय, वैश्यों का पक्षपात किया गया है "इत्यादि आक्षेप किये। इनके विरोध और खण्डन से वर्णाश्रम व्यवस्था को बहुत कुछ हानि पहुंची। यहीं तक सन्तोष नहीं किया किन्तु जैनियों ने बहुतसे वैदिक ग्रन्थ जलाकर भस्मसात् कर दिये।

इनके पश्चात् श्रीयुत गौड़पादाचार्य के प्रसिद्ध शिष्य स्वामी शंकराचार्य जी प्रादुर्भूत हुये। शंकरस्वामी वेदमार्ग और वर्णाश्रम धर्म के मानने वाले थे। उनकी योग्यता कैसी उच्च कक्षा की थी, यह उनके बनाये शारीरिक भाष्य से विदित होता है। शंकरस्वामी के समय में जो अनेक पाखण्ड मत चले थे और जिनका कि उन्होंने खंडन

किया है, वह शंकरदिग्विजय के निम्नलिखित श्लोक से प्रकट होते हैं।

शाक्तैः पाशुपतैरपिच्छपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
रन्यैरप्यखिलैःखिलैःखलुखिलं दुर्वादिभिर्वादिकम्

इस से अनुमान किया जासक्ता है कि श्रीमान् स्वामी शंकराचार्य ने वेद विरुद्ध मतों के खंडन में कितना उद्योग किया है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

तेरहवां व्याख्यान।

इतिहास।

सुधन्वा राजा के साथ (जो बौद्धमत का अनुयायी था) शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ, इसमें प्रतिज्ञा यह हुई थी कि यदि शंकराचार्य पराजित हुए तो उन्हें बौद्ध मत स्वीकार करना होगा। बौद्ध पंडित वेदों की निन्दा

करते हुये कहते थे कि वेदों के बनानेवाले भांड, धूर्त और राक्षस हैं। झूठे दोष वेदों पर लगाते हैं। यदि महीधर की तरह वेदों का अर्थ किया जावे तो बौद्धों के आक्षेपों को अवकाश मिलताहै। 'गव' शब्द को 'गो' से न लेकर महीधर ने अर्थ का अनर्थ कर दिया है। शतपथ ब्राह्मण में इस के अर्थ प्रजा, राष्ट्र या श्री के किये गये हैं। शोक है कि आजकल के शास्त्री लोग भी महीधर के अर्थों को मानते हैं। "अश्व" शब्द के अर्थ शतपथ के प्रमाण से यदि "अग्नि" के किये जावें जिसको कि महीधर ने गन्दे-पन में घसीटा है, तो बौद्धों के आक्षेप वेदों पर से दूर हो जाते हैं और यदि हठ से महीधर जैसे अनार्ष टीकाकार का पक्ष किया जावे तो बौद्ध लोगों के आक्षेप कैसे दूर हो सकते हैं। बुद्धिमानों को इसपर विचार करना चाहिए, क्योंकि महीधर के जैसे मनमाने अर्थ करने के कारण वेद ईश्वर से विमुख तीर्थंकर और केवल स्वभाव को माननेवाले मत पैदा होगये।

सुधन्वा राजा शास्त्रार्थ में हारगया और उसने वेद मत को स्वीकार कर लिया। इस के पश्चात् शंकराचार्य

बुद्धगया * में गये वहाँ का राजा कट्टर बौद्ध था, वह आश्रम व्यवस्था को यह राजा नहीं मानता था। इस राजा को भी जीतकर शंकराचार्य ने वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया। बौद्धमत का अब ह्रास होनेलगा। अब इसका कुछ आकार बदलकर जैनमत का प्रारम्भ हुआ। जैन-लोग केवल युक्तिवादी थे और कृमि, कीटों के रक्षक होने के कारण मनुष्यों पर वे अधिक दया का प्रयोग नहीं करते थे। बुद्ध और जैनमतों के फैलने से क्षात्रधर्म को बहुत हानि पहुँची।

अतः पश्चात् विक्रम, भर्तृहरि, शालिवाहन और भोज आदि बहुत से राजा हुये। इसी समय में कालिदास पण्डित हुआ। ग्वालियर के भिरड नामी नगर में मिश्र-लोग रहते हैं, उनके पास संजीवनी नाम एक पुस्तक है उस में महाभारत के विषय में ऐसा लिखा है कि व्यास ने पहिले एक हजार श्लोक बनाये, फिर उसके बाद व्यास

* गया जो कि आजकल हिन्दुओं का तीर्थ है वास्तव में बौद्ध लोगों का एक पवित्र स्थान था। अब तक भी बहुत सी मूर्तियां जिनको हिन्दूलोग पूजते हैं, वहां बौद्धों की हैं।

के शिष्यों ने एक हज़ार के ६ हज़ार कर दिये। इसके बाद फिर भरती पर भरती होती चली गई। जिस समय जैन मत उन्नति पर था, उस समय केवल ब्रह्मवैवर्त और वायुपुराण आदि दो तीन पुराण मालूम थे। आजकल कहने को तो केवल १८ ही पुराण हैं, किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि वास्तव में कितने पुराण हैं और इनमें क्या २ धर घसीटा है। यावनी भाषा न बोले, जैन मन्दिर में न जावे, इस प्रकार कट्टरपन के सैकड़ों श्लोक बनगये हैं। ईश्वर या उपासना करने के स्थान, जिनका नाम देवालय या देवस्थान था, अब मूर्तियों के स्थान बन गये। लोग ईश्वर के स्थान में मन्दिरों में रक्खी हुई मूर्तियों की पूजा करने लगे। जैनियों के मन्दिरों की मूर्तियों को भी देवता समझकर पूजने लगे और जैनियों के देवल में मूर्तियां बिठाकर गपोड़ हांकने लगे और भांति २ के हथखण्डों से लोगों को मूर्तियों का चमत्कार दिखलाने लगे। लोग भी आजकल की भांति चतुर न थे, इस लिये पुजारियों के फन्दे में फँसने लगे।

जब पुजारी, वैरागी और गोसाईं आदि का ज़ोर

बढ़ चला, तब यह कहने लगे कि १८ पुराण सत्यवतीसुत व्यास ने बनाये हैं इस प्रकार अनार्ष ग्रन्थों का प्रचार और आर्ष ग्रन्थों का लोप होता गया। जड़मूर्तियों में प्राणप्रतिष्ठा करने लगे और प्रतिष्ठामयूख और प्रतिष्ठाभास्कर आदि ग्रन्थ बनाडाले जिन में प्राणप्रतिष्ठा के मन्त्रों के नमूने देखिये—

"प्राणा इहागच्छन्तु इहतिष्ठन्तु, इन्द्रियाणीहागच्छन्तु इहतिष्ठन्तु"।

इस प्राणप्रतिष्ठा के गपोड़े को आर्यशास्त्रों से सहारा कहां मिल सकता है। चारों वेदों की संहिता में कहीं एक मन्त्र भी प्राणप्रतिष्ठा का नहीं मिलता। इस प्रकार के कल्पित मन्त्र पौराणिक समय में लोगों ने गढ़ लिये और कहने लगे कि प्राणप्रतिष्ठा से मूर्ति में पूजा का अधिकार पैदा होजाता है। मालूम होता है कि यह मूर्तिपूजा जैनमतवालों से इस में घुस आई है। और इसको सहारा देने के लिये पुराणों में इसका वर्णन किया गया है।

अवतारों का वर्णन भी पुराणों में ही मिलता है।

हरिवंश में नृसिंहावतार की कथा है अवतारों की कथाओं और मूर्तिपूजा के प्रचार से लोगों की मननशक्ति दूर होकर मन का झुकाव कर्म मार्ग की—तरफ होगया। मनमाने व्रत, उपवास, उद्यापन आदि लोग करते हैं। ऐसे कामों से शारीरिक स्वास्थ्य की हानि और रोगों की वृद्धि होती है, इस के अतिरिक्त इन बखेड़ों से शैव, वैष्णव, वल्लभाचारी और रामानुजी आदि अनेक प्रकार के सम्प्रदाय उत्पन्न होकर आपस में विरोध बढ़ता है और जड़ मूर्तियों के आगे बालभोग रखने, उन्हें सुलाने और रासलीला करने आदि बालक्रीड़ाओं से वैदिक धर्म की निन्दा होती है और देश के प्रत्येक प्रान्त में पाप की वृद्धि होती है। ऐसी और भी बहुत सी हानियां मूर्ति पूजा से होती हैं। मन्दिरों में पुजारी लोग वैसा ही प्रसाद देते हैं, जैसी कि उनको दक्षिणा मिलती है। इस लिये मन्दिर क्या हैं मानो सेठ लोगों की दूकानें हैं। पुजारी लोग अपने स्वार्थ के लिये आलस्य और मूर्खता को बढ़ानेवाले बहुत से नये वाक्य बनाकर लोगों को फँसाते हैं। बहुत से वाक्यों को अपनी इच्छा के अनुसार जोड़ मेल करदिया है। कहते हैं कि—

पठितव्यंतदपिमर्त्तव्यंदन्तकटाकटेतिकिंकर्त्तव्यं
प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा सर्वं पाप विनश्यति ॥

(१) पढ़कर भी जब मरजाना है तो दांत कटाकट करने की क्या आवश्यकता है ।

(२) यदि प्रातःकाल उठकर शिवलिंग का दर्शन करें तो सारे पाप नष्ट होजाते हैं ।

वाह ! क्या पुरुषार्थ है । ज्ञान के बिना भोग, पुरुषार्थ और आनन्द नहीं है । परन्तु जहां ऊपर कही हुई भांति पुरुषार्थ की समझ है तो वहां भागवत जैसे पुराणों का ज़ोर क्यों न होगा । यथार्थ विद्याओं के पठनपाठन को एक तरफ़ हटाकर पुराणों के केवल सुनने में सारे माहात्म्य लाकर धर दिये हैं । प्रत्येक पुराण की समाप्ति पर उसके सुनने से क्या २ लाभ होंगे, इसके मनमाने फल वर्णन किये हैं ।

इस प्रकार धर्मबुद्धि बिगड़ जाने से लोग निर्बल और कायर होगये, तभी तो ऐसी भ्रान्ति में फँस गये कि नवग्रहों से हमारी हानि होगी । इसी आधार पर

फलित ज्योतिष का आडम्बर फैलाकर तदनुसार नवग्रहों के जाप के मन्त्र बनाये गये । इन मन्त्रों के अर्थों का इन कामों के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं जिन के करते समय कि उनका प्रयोग किया जाता है, इस विषय पर कभी किसी ने विचार नहीं किया । उदाहरण के लिये एक ही (शन्नोदेवी) मन्त्र को देखिये । इसको शनैश्चर देवता का मन्त्र ठहराया है और ज्योतिषी जी महाराज ने अपना खेत पकाया है । इसी प्रकार सम्प्रदायी लोगों ने तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण कर ऐसे २ उपदेशों से भोले भाले लोगों के मन भ्रष्ट कर दिये ।

पाठक ! यहां भलीभांति विचार कीजिये कि प्रमा ज्ञान क्या है और भ्रांतिज्ञान क्या है ? देखिये जो वस्तु जैसी हो, उसका वैसाही ज्ञान होना प्रमा ज्ञान कहलाता है ।

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।

प्रमाणों से अर्थों की परीक्षा करना न्याय कहलाता है । इस वाक्य को कसौटी पर लगाकर सच झूंठ की परीक्षा कीजिये ।

हमारे भाई शास्त्री लोग हठ करते हैं, यह हम सब का दुर्भाग्य है। हमारे भरतखण्ड देश से वेदों का बहुत सा धर्म लुप्त होगया है और रहासहा हम लोगों के प्रमाद से नष्ट होता जा रहा है। और उसकी जगह पाखण्ड, अनाचार और दम्भ बढ़ता जारहा। सदाचार और सचाई से हम लोग दूर होते जारहे हैं, तभी तो हम सब की दुर्दशा होरही है। इसमें आश्चर्य ही क्या है। सनातन आर्य अन्य वेदादि को छोड़कर पुराणों में लिपट रहे हैं और उनकी कल्पित और असम्भव गाथाओं को अपना धर्म समझ रहे हैं। यदि मुझसे कोई पूछे कि इस पागलपन का कोई उपाय भी है या नहीं? तो मेरा उत्तर यह है कि यद्यपि रोग बहुत बढ़ा हुआ है, तथापि इसका उपाय होसकता है। यदि परमात्मा की कृपा हुई तो रोग असाध्य नहीं है। वेद और ६ दर्शनों की सी प्राचीन पुस्तकों के भिन्न २ भाषाओं में अनुवाद करके सब लोगों को जिससे अनायास प्राचीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हो सके, ऐसा यत्न करना चाहिये और पढ़े लिखे विद्वान् लोगों से सच्चे धर्म का उपदेश करने की तरफ विशेष ध्यान

देना चाहिये और गाँव गाँव में आर्यसमाज स्थापन करके तथा मूर्तिपूजादि अनाचारों को दूर करके एवं ब्रह्मचर्य से जप का सामर्थ्य बढ़ाकर सब वर्णों और आश्रमों के लोगों को चाहिये कि शारीरिक और आत्मिक बल को बढ़ावें तो सुगमता से शीघ्र लोगों की आंखें खुल जावेंगी और यह दुर्दशा दूर होकर सुदशा प्राप्त होगी। मेरे जैसे एक निर्बल मनुष्य के करने से यह काम कैसे होसकेगा इसलिये आप सब बुद्धिमान् लोगों से आशा रखता हूं कि आप मुझे इस शुभ काम में सहायता देंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—:o:—

चौदहवां व्याख्यान।

नित्यकर्म और मुक्ति।

—:*:—

प्रत्येक स्त्री और पुरुष के जो प्रतिदिन के कर्त्तव्य हैं, उनको आह्निक कर्म कहते हैं। धर्मसम्बन्धी जो कर्त्तव्य हैं, वे नित्यकर्म हैं। वे कर्म किसको किस प्रकार और कहां तक करने चाहियें और किसको न करने चाहियें, इस

विषय पर विचार किया जाता है। बालक मूर्ख और छोटा होने के कारण माता पिता के अधीन रहता है और ८ वर्ष की अवस्था तक उस में धर्म सम्बन्धी काम करने की योग्यता नहीं होती। इस लिये हमारे धर्म शास्त्रों ने उपनयन (यज्ञोपवीत) होने से पहिले बालकों के लिये नित्यकर्म का विधान नहीं किया है। इसी प्रकार वर्ण, आश्रम, विद्या, आयु और शारीरिक बल इत्यादि के अनुसार शास्त्रों ने नित्य कर्म की व्यवस्था की है। धर्मानुष्ठान के सम्बन्ध में नित्यकर्म निम्नलिखित हैं—

१ ब्रह्मयज्ञ—जो वेदों के पठन पाठन द्वारा होता है। 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ विद्या, वेद और परमात्मा तीनों के हैं। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ विचार है इस लिये ब्रह्मयज्ञ के अर्थ वेदों का प्रचार या परमात्मा का विचार हुआ। ब्रह्मयज्ञ के ठीक अर्थों को मन में जगह देकर यह स्पष्ट मालूम होता है कि आजकल जिस रीति पर ब्रह्मयज्ञ किया जाता है, वह निष्फल है और फिर यह आशा मन में कभी स्थान न पावेगा कि आधुनिक ब्रह्मयज्ञ शास्त्र के अनुसार नहीं है।

२ देवयज्ञ—यदग्नौ हूयते स देवयज्ञः—जो अग्नि में होम किया जाता है, वह देवयज्ञ है। कोई लोग देवयज्ञ का अभिप्राय देवतों की पूजा समझते हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों और मनुस्मृति के देखने से मालूम होता है कि इस देवयज्ञ का ठीक अभिप्राय होम अर्थात् अग्निहोत्र है। अग्नि दो प्रकार का है एक जठराग्नि और दूसरा भौतिकाग्नि। कोई लोग कहते हैं।

होमैर्देवान् यथा विधि अर्चयेत्। होम से विद्वानों का यथा विधि सत्कार करना चाहिये। होम शब्द के पारिभाषिक अर्थ कभी २ दान और आदान के भी होजाते हैं। फिर भी कोई मनुष्य किसी प्रकार मूर्तिपूजा को देवयज्ञ में शामिल नहीं कर सकता।

३ पितृयज्ञ—पितृभ्यो ददाति सा पितृयज्ञः। जिस में पितरों को दियाजावे अर्थात् उनकी सेवा की जावे, उसे पितृयज्ञ कहते हैं। यहां पर पितृ शब्द के अर्थ पर विचार करना चाहिये।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः॥

न हायनैर्नपलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥

सुनीति, धर्म, सचाई और सच्चरित्रता आदि गुणों से युक्त अत्यन्त सहिष्णु, महात्मा जो प्राचीन ऋषि हुये हैं उन्हीं को अपने तपोबल के प्रभाव से वसु, रुद्र और आदित्य आदि की पदवियां मिला करती थीं। ऐसे ऋषि सच्चे पितर होते थे और उनका आदर सत्कार करना पितृयज्ञ कहलाता था। २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने वाला वसु, ३६ वर्ष तक रुद्र और ४८ वर्ष तक रहने वाला आदित्य कहलाता था। छान्दोग्यउपनिषद् में प्रातः मध्याह्न और सायंकाल के लिये ३ हवन बतलाये गये हैं, जो तीनों प्रकार के ब्रह्मचारियों से सम्बन्ध रखते हैं। इन सब के तात्पर्य पर विचार करने से मालूम होता है कि विद्या के द्वारा आत्मिक जन्म देने वालाही पिता कहलाता है और ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं।

आज कल पितृ यज्ञ कहने से जो मृतकों का श्राद्ध और तर्पण समझा जाता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि

मनुजीने भी कहा है कि श्रद्धा से जो काम किया जाता है, उसे श्राद्ध कहते हैं और तृप्ति का नाम तर्पण है। इन सब अर्थों और प्रयोगों पर विचार करने से मालूम होता है कि आजकल जो देवयज्ञ और पितृयज्ञ की व्याख्या की जाती है, वह कवियों की अत्युक्ति ही है। भला सोचिये कि कवियों की अत्युक्ति से यथार्थ तत्व कैसे जाना जासकता है? विद्या सत्कार अर्थात् ऋषिसत्कार और पितृसत्कार अर्थात् विद्वानों के सत्कार को पितृयज्ञ मानना चाहिये। श्रद्धा के विना जो किया जाता है वह मर्प कर्म अर्थात् श्राद्ध नहीं होता। मनु जी ने कहा है—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयत्॥

पाखण्डी, वेदों की आज्ञा के विरुद्ध चलनेवाले, विडालवृत्तिवाले, हठी, बकवासी और बगलाभक्त मनुष्यों का वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिये।

वेद विहित पितरों की सेवा सुश्रूषा छोड़कर समुद्र पहाड़ नदी और वृक्षों का तर्पण करना और इस श्राद्ध

मानना चला, यह पाखण्ड नहीं तो और क्या है ? प्राचीन पद्धति ही यदि लेनी थी तो ऋषियों की पद्धति को स्वीकार करते ।

४ भूतयज्ञ-यो भूतेभ्यः क्रियते स भूतयज्ञः । जो प्राणियों को भाग दिया जाता है, उसे भूतयज्ञ कहते हैं । इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है, साधारण प्राणियों का पालन करना भूतयज्ञ है ।

५ अतिथियज्ञ-मनुजी लिखते हैं:—

अनित्यात्हि स्थितियस्य सोऽतिथिः सन्निरुच्यते ।

जिसके आगमन की कोई नियत तिथि न हो और स्थिति भी जिसकी अनियत हो, वह अतिथि कहलाता है । अतिथि यज्ञ का अधिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका आना जाना और ठहरना अनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो, यह एक श्रेष्ठ कर्म है ।

अब पुनः ब्रह्मयज्ञ पर विचार करना चाहिये । इस यज्ञ के सम्बन्ध में सन्ध्योपासना अवश्य करनी चाहिये । इस के विषय में एक सन्ध्योपनिषद् है, इस पुस्तक में

विशेष व्याख्या की गई है। इस उपासना का अधिकार यदि योग्य अवस्था हो तो लड़के लड़कियों को बराबर है दिन और रात की सन्धि के समय में यह उपासना अवश्य करनी चाहिये। ऐसा सन्धि समय नित्य प्रातः दो समय आता है, तीन वार नहीं होता। इस लिये दोपहर की तीसरी सन्ध्या कदापि नहीं होसकती। सामब्राह्मण और यजुर्वेद का ब्राह्मण देख लीजिये—

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यमुपासीत।

(सामब्राह्मण)

दिन और रात की सन्धि के समय सन्ध्योपासन करनी चाहिये।

उद्यन्तमस्तंयान्तमादित्यमभिध्यायत्।

(यजुर्वेदीय ब्राह्मण)

सूर्य के उदय और अस्त होने पर सन्ध्या करनी चाहिये। इन प्रमाणों से केवल दो सन्ध्या ही सिद्ध होती हैं। सन्ध्योपासना में गायत्री महामन्त्र के अर्थ पर करना चाहिये, इस मन्त्र में सारे विश्व को उत्पन्न करने वाले प

मात्मा का जो उत्तम तेज है उसका ध्यान करने से बुद्धि [illegible] मलिनता दूर होजाती है और धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता उत्पन्न होती है । दूसरे किसी मत में प्रार्थना के मन्त्रों की ऐसी गहराई और ऊंचाई नहीं है । ईसाई लोगों की प्रार्थना के मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है कि-"हे परमेश्वर ! हमको प्रतिदिन रोटी खाने को दे" इस की अपेक्षा इस आर्य्यों के महामन्त्र का अर्थ कैसा गम्भीर है । आधुनिक समय में जो २ मत निकले हैं, उनके प्रार्थना के मन्त्र इस महा मन्त्र के सामने कैसे तुच्छ हैं, इस पर प्रत्येक बुद्धिमान् को विचार करना चाहिये । सन्ध्योपासना सायं प्रातः इन दो कालों में ही करना चाहिये । दोनों कालों में मनोवृत्ति की स्थिरता में प्राकृतिक सहायता मिलती है । सूतक * में भी सन्ध्या बाहर करनी चाहिये । अनध्याय नहीं करना चाहिये । इस विषय में मनुजी लिखते हैं—

* हिन्दुओं में जब किसी के घर सन्तानोत्पत्ति होती है तो उसके सम्बन्धियों के यहां दश दिन तक या तीन दिन सूतक माना जाता है । इसी प्रकार मृत्यु में भी । इन दिनों पूजा पाठ आदि वर्जित रहते हैं ।

दोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
न विरोधोस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैवाहि ॥

वेद पाठ, नित्य कर्म और होममन्त्रों में अनध्याय नहीं है।

नित्यकर्म का अभिप्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे, इस लिये प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म को या इस के फल को परमेश्वर के अर्पण करता हूं। यहां तक नित्य कर्म का विधान हुआ।

अब आगे मुक्ति के विषय में थोड़ा सा विचार किया जाता है। मुक्ति शब्द का अर्थ छूटना है। यहां प्रश्न होता है, किससे छूटना? उत्तर स्पष्ट है कि दुःख अर्थात् बन्धन से छूटना मुक्ति है। जहां बन्धन नहीं, वहां मुक्ति भी नहीं। जीवात्मा बद्ध है, इस लिये इसको मुक्ति की आवश्यकता है। ईश्वर सदा मुक्त है अर्थात् बन्धन से पृथक है, इस लिये उसको मुक्त स्वभाव कहते हैं। मुक्ति का अधिकारी होना बड़ा ही कठिन काम है। मुक्ति की दशा में नित्य सुख का अनुभव होता है। आज कल तो लोग

यह समझते हैं कि सस्ती भाजी की तरह मनमाने कामों से मुक्ति मिलती है। परन्तु यह मूर्खपन की समझ है मुक्ति के मनमाने चार भेद जो लोग बतलाते हैं, वे ये हैं। सायुज्य, सारूप्य, सामीप्य और सालोक्य ये सब कल्पित हैं। वेदादि शास्त्रों में मुक्ति के ये भेद कहीं नहीं लिखे। प्रत्युत उनमें एकही प्रकार की मुक्ति बतलाई गई है।

यजुर्वेद में लिखा है—

तदेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

"उस परमात्मा को जानकर ही मृत्यु को जीत सकते हैं, दूसरा और कोई मार्ग नहीं है"। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मुक्ति का मार्ग एक है और वह केवल परमेश्वर का ज्ञान है। इस पर प्रश्न होगा कि वह परमेश्वर कैसा है?

नतस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।

यजुर्वेद।

"उस परमात्मा की कोई प्रतिमा (मूर्त्ति या पैमाना) नहीं है, जिसका कि यश बड़ा है"। फिर तत्त्वकार और

बृहदारण्यक उपनिषद् को भी देखना चाहिये, जिसमें बतलाया है कि जीवात्मा के भीतर भी वह परमात्मा व्यापक है तथा उसे वाणी, मन, आंख, कान और प्राणों को भी अपने २ कार्यों में लगानेवाला माना है और उसे एक तथा अद्वितीय माना है। इन सब प्रमाणों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि परमेश्वर के ज्ञान के बिना मुक्ति पाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। वह परमेश्वर अरूप, अनादि तथा अनन्त है वही ब्रह्म सबसे बड़ा और सब का सहारा है। आजकल की मुक्ति तो यह समझा जाती है कि जीव और परमात्मा एकही है, बस यह ज्ञान होना ही मुक्ति है। यह आजकल के वेदान्तियों का मत है किन्तु यह सच्चा वेदान्त नहीं है और न वेदों का सिद्धान्त है। इस बात की पड़ताल करने पर कि छः दर्शनों के प्रणेताओं की मुक्ति के विषय में क्या सम्मति है? इस का तत्व मालूम होजायगा। पहिले जैमिनिकृत पूर्व मीमांसा में यह कहा है कि धर्म अर्थात् यज्ञ से मुक्ति मिलती है और वहां "यज्ञो वै विष्णुः" इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण भी दिये हैं। इस पर विचार कीजिये।

फिर कणादि मुनि के वैशेषिक दर्शन में कहा है कि तत्व ज्ञान से मुक्ति होती है। न्यायदर्शन के रचयिता गौतम ने अत्यन्त दुःख निवृत्ति को मुक्ति माना है। मिथ्याज्ञान के दूर होने से बुद्धि वाक् और शरीर शुद्ध होते और इनकी शुद्धि से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, वही मुक्ति की अवस्था है। योगशास्त्र के कर्त्ता पतञ्जलि मानते हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध करने से शान्ति और ज्ञान प्राप्त होते हैं और इससे कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। सांख्यशास्त्र के प्रणेता महामुनि कपिल कहते हैं कि तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति होना ही परमपुरुषार्थ (मुक्ति) है। अब देखिये कि उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्तदर्शन के रचयिता बादरायण (व्यास) क्या कहते हैं—

अविभागेन दृष्टत्वाच्चितिमात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः। अभावं बादरिराह ह्येवम्॥

व्यास के मत से मुक्ति की दशा में अभाव और भाव दोनों रहते हैं। मुक्त जीवात्मा का परमेश्वर के साथ

व्याप्य व्यापक सम्बन्ध रहता है। दोनों एक अर्थात् जीवात्मा का अभाव कभी नहीं होता।

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च।

परमेश्वर के ज्ञान, सामर्थ्य और आनन्द कुछ जीवात्मा को प्राप्त होते हैं।

ईश्वर का आनन्द असीम है, वैसा आनन्द मुक्त जीवात्मा को हो नहीं सकता, जीव ब्रह्म में अभेद जानने से धर्मानुष्ठान के सब साधन योग, तप और उपासनादि सब निष्फल हो जायँगे। इस लिये परमात्मा और जीवात्मा को एक मानना ठीक नहीं है। व्यापक और व्याप्य सेव्य और सेवक आदि सम्बन्ध ईश्वर और जीव में वर्त्तमान रहता है और यही सम्बन्ध जीवात्मा के जन्म मरण के बन्धन से छुटकारे का कारण होता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—:o:—

पन्द्रहवां व्याख्यान।

स्वयंकथित जीवनचरित्र।

हमसे बहुत से लोग पूछते हैं कि हम कैसे जानें कि आप ब्राह्मण हैं और कहते हैं कि आप अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की चिट्ठियां मँगादें या आपको जो पहचानता हो, उसको बतलावें। इस लिये मैं अपना कुछ वृत्तान्त कहता हूं। दूसरे देशों की अपेक्षा गुजरात में कुछ मोह अधिक है, यदि मैं अपने पूर्व मित्रों तथा सम्बन्धियों को अपना पता दूं या पत्र व्यवहार करूं तो मेरे पीछे एक ऐसी व्याधि लगजावेगी, जिस से कि मैं छूट चुका हूं। इस भय से कि कहीं वह बला मेरे पीछे न लगजावे, मैं पत्रादि मँगा देने की चेष्टा नहीं करता। धराधरा नाम एक राज्य गुजरात देश में है, इस की सीमा पर एक मेरवी नगर है, वहां मेरा जन्म हुआ था। मैं उदीच्य ब्राह्मण हूं। उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी होते हैं, परन्तु मैं ने बड़ी कठिनता से यजुर्वेद पढ़ा था। मेरे घर में अच्छी जमीदारी है। इस समय मेरी अवस्था ५० वर्ष की होगी।

आठवें वर्ष मेरे बाद एक बहन पैदा हुई थी। मेरा एक चचेरा दादा था, वह मुझसे बहुत ही प्यार करता था। मेरे कुटुम्बियों के इस समय १५ घर होंगे। मुझको लड़कपन में ही रुद्राध्याय सिखलाकर शुक्ल यजुर्वेद का पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। मेरे पिताने मुझको शिवकी पूजा में लगा दिया। दसवें वर्ष मैं पार्थिव (मिट्टी के महादेव) की पूजा करने लगगया।

मुझे पिता ने शिवरात्रि का व्रत रखने को कहा था, परन्तु मैंने शिवरात्रि का व्रत न किया। तब शिवरात्रि की कथा मुझे सुनाई, वह कथा मेरे मन को बहुत मीठी लगी और मैंने उपवास रहने का पक्का निश्चय करलिया। मेरी माँ कहती थी कि उपवास मतकर, मैंने माता का कहना न मानकर उपवास किया, पर मुझ से भूखा न रहा गया। मेरे यहाँ नगर के बाहर एक बड़ा देवल है। वहाँ शिवरात्रि के दिन रातके समय बहुत लोग एकत्रित होते हैं और पूजा करते हैं। मेरा पिता मैं और बहुत मनुष्य इकट्ठे थे। पहिले पहर की पूजा करली, दूसरे पहर की पूजा भी होगई। अब बारह बज गये और धीरे धीरे

आलस्य के कारण लोग जहां के तहां झुकने लगे। पिता को भी निद्रा आगई। इतने में पुजारी बाहर गया। मैं इस भय से न सोया कि कहीं मेरा उपवास निष्फल न होजाय। इतने में यह चमत्कार हुआ कि मन्दिर में बिल से चूहे बाहर निकले और महादेव की पिण्डी के चारों तरफ़ फिरने लगे। पिण्डी पर जो चावल चढ़ाये हुये थे, उन्हें ऊपर चढ़कर खाने भी लगे। मैं जागता था, इसलिये यह सब कौतुक देख रहा था। इससे एक दिन पहिले शिवरात्रि की कथा मैं सुनही चुका था। उसमें शिव के भयानक गणों, उनके पाशुपत अस्त्र, बैलकी सवारी और उसके आश्चर्यमय सामर्थ्य के विषय में बहुत कुछ सुन चुका था। इसलिये चूहों के इस खेल को देखकर मेरी लड़कपन की बुद्धि आश्चर्य में पड़गई और मैंने सोचा कि जो शिव अपने पाशुपत अस्त्र से बड़े २ दैत्यों को मारता है, क्या वह ऐसे तुच्छ चूहों को भी अपने ऊपर से नहीं हटा सकता। इस प्रकार की बहुत सी शंकायें मेरे मन में उठने लगीं। मैंने पिता जी को जगाकर पूछा कि महादेव इस छोटे चूहे को क्यों नहीं हटा देते। पिता

कहा कि तेरी बुद्धि बड़ी भ्रष्ट है, यह तो केवल देवता की मूर्त्ति है। तब मैंने निश्चय किया कि जब मैं इसी त्रिशूलधारी शिव को प्रत्यक्ष देखूंगा, तब ही पूजा करूंगा, अन्यथा नहीं। ऐसा निश्चय करके मैं घर को गया, भूख लगी, माता से खाने को मांगा। माता कहने लगी, "मैं तो तुझ से पहले ही कहती थी कि तुझ से भूखा नहीं रहा जायगा। तूने ही हठ करके उपवास किया।" मांने फिर मुझे खाना दिया और कहा कि 'दो दिन तू इसके अर्थात् पिता के पास मत जाइयो और न इन से बोलियो नहीं तो मार खायगा' खाना खाकर मैं सोगया। दूसरे दिन आठ बजे उठा, मैंने सारी कथा अपने दादा से कहदी। मेरे दादा ने बुद्धिमत्ता से मेरे पिता को समझा दिया कि इसको आगे विद्या पढ़नी है, इसलिये व्रत उपवास आदि इस से कुछ न कराया करो। इस समय मैं इन से यजुर्वेद पढ़ता था और दूसरे एक पण्डित मुझे व्याकरण पढ़ाते थे। सोलहवें या सत्रहवें वर्ष में यजुर्वेद समाप्त हुआ। इस के बाद मैं अपने जमीन्दारी के गांव में पढ़ने के लिये गया। वहां हमारे घर में एक दिन नाच होता

था, उस समय मेरी छोटी बहन मरणापन्न थी, कण्ठ बन्द होगया था। मैं वहां गया और उसके बिस्तरे के पास खड़ा हुआ। सब से पहिले मैंने मौत वहीं देखी। जब मेरी बहन मर गई तो मुझे बड़ा भय हुआ। मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि सब को इसी प्रकार मरना है। सब लोग रोते थे, पर मेरी छाती भय से धड़क रही थी। इस लिये मेरी आंखों से एक आंसू भी न गिरा। मेरी यह दशा देख कर पिता ने मुझको पाषाणहृदय कहा।

मेरी माता मुझे बहुत प्यार करती थी, किन्तु उसने भी ऐसा ही कहा, मुझे सोने के लिये कहते थे पर मुझे कभी अच्छी तरह नींद न आती थी। किन्तु मैं हर घड़ी चौंक २ उठता था और मन में भांति २ के विचार उठते थे बहन के मरने पश्चात् लोकरीति के अनुसार पांच छः बार रोना होने पर भी जब मुझे रोना न आया तो सब लोग मुझे धिक्कारने लगे।

उन्नीसवें वर्ष में मुझ से अत्यन्त स्नेह रखनेवाले मेरे दादा को भी मृत्यु ने जाल दबाया। मरते समय उन्हों ने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं

उनके पास बैठा था, मुझे देखकर उनके टप २ आंसू गिरने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, मैंने रो २ कर आखें सुझालीं। ऐसा रोना मुझे कभी नहीं आया। इस समय मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि चचाकी तरह मैं भी मरजाऊंगा। ऐसा विश्वास होजाने पर अपने मित्रों और पण्डितों से अमर होने का उपाय पूछने लगा। जब उन्होंने योगाभ्यास की ओर संकेत किया, तो मेरे मन में यह सूझी कि घर छोड़ कर चला जाऊं। इस समय मेरी आयु २० वर्ष की थी।

मेरी बढ़ी हुई उदासीनता देखकर पिता ने जमींदारी काम करने को कहा, परन्तु मैंने न किया। फिर पिता ने निश्चय किया कि मेरा विवाह करदें ताकि मैं बिगड़ न जाऊं। यह विचार घरमें होने लगा, यह मालूम करके मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि विवाह कभी न करूंगा। यह भेद मैंने एक मित्र से प्रकट किया तो उसने नापसन्द किया और विवाह करने के लिये जोर देनेलगा। मेरा विचार घर छोड़ कर चले जाने का था पर किसी से सलाह न ली। जो कहते थे विवाह करने को ही कहते। एक महीने भीतर

विवाह की तैयारी होगई। यह देखकर मैं एक दिन शौच के मिष (बहाने) से एक धोती साथ लेकर घर से निकल पड़ा और एक सिपाही द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूं। मैं एक पास के गांव में गया। इधर घर मेरी प्रतीक्षा दश बजे रात तक होती रही। इसी रात को चार घड़ी के तड़के मैं गांव से निकल कर आगे चल-दिया और अपने गांव से दस कोस के अन्तर पर एक गांव में हनुमान् के मन्दिर पर ठहरा। वहां से चल कर मायला योगी के पास गया, परन्तु वहां पर भी मुझे शान्ति नहीं मिली और लोगों से सुना कि लालाभक्त नामी एक योगी हैं, तब उनकी ओर चलपड़ा। मार्ग में एक वैरागी एक मूर्ति रखकर बैठा हुआ था। बातचीत होने पर वह बोला कि अंगुली में सोने का छल्ला डाल कर वैराग्य की सिद्धि कैसे होगी? मुझे इस प्रकार खिजा कर मेरे तीनों छल्ले मूर्ति की भेंट चढ़ालिये। लालाभक्त के पास जाकर मैं योगसाधन करने लगा। रातको एक वृक्षके नीचे बैठगया तो वृक्ष के ऊपर भूत बोलने लगा। उसकी आवाज सुनकर मुझे भूत का भय हुआ। मैं पठ

के भीतर घुस गया। फिर वहां से अहमदाबाद के समीप कोट कांगड़े नामी गांव में आया, वहां बहुत से वैरागी रहते थे। एक वहीं की रानी वैरागी के फन्दे में आगई थी। इन रानी ने मेरे साथ दग़ा किया, परन्तु मैं जाल से छूट गया, इस स्थान पर मैं तीन महीने रहा था। यहां पर वैरागी मुझ पर हँसी उड़ाने लगे, इस लिये जो रेशमी किनारेदार धोती मैं पहनता था, वह मैंने फेंकदी। मेरे पास केवल ३) रुपये रहगये थे, इनसे सादी धोती खरीद कर पहनली और तब से अपना ब्रह्मचारी नाम रखलिया। उन्हीं दिनों मैंने सुना कि कार्तिक के महीने में सिद्धपुर के स्थान पर एक मेला होता है। यह सोच कर कि वहां शायद मुझे कोई योगी मिलजावे और अमर होने का मार्ग बतादे, मैंने सिद्धपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में मुझे अपने गांव का आदमी मिला, उसने जाकर मेरे बाप को बतला दिया कि मैं सिद्धपुर की ओर चला गया हूं। मेरा पिता और घर के लोग बराबर मेरी खोज में थे। इस आदमी की जबानी मेरा पता सुनकर मेरे पिता चार सिपाहियों सहित सिद्धपुर को आये। मैं एक

मन्दिर में बैठा हुआ था कि एकाएक मेरे पिता और चार सिपाही मेरे सामने आकर खड़े होगये। देखते ही मेरा कलेजा धड़कने लगा। इस भय से कि पिता मुझको मारेंगे, मैंने उठकर उनके पांव पकड़ लिये। वे मुझपर बहुत ही क्रुद्ध हुये, मैंने उनसे कहा कि एक धूर्त्त बहकाकर मुझे यहां लाया है, मैं घर जाने को तैयार ही था कि आप आगये। उन्होंने मेरा तूंबा तोड़ डाला और मेरी छाल फाड़डाली और कुछ कपड़े मुझे दिये। मेरे पीछे दो सिपाही सदा के लिये करदिये। रातको जहां मैं सोता था एक सिपाही मेरे सिरहाने बैठा जागता रहता था। मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊं और इस लिये मैं यह जानने के लिये कि सिपाही रात को सोता है या नहीं, खुद भी जागता रहता। सिपाही को तो यह निश्चय होजाता कि मैं सोरहा हूं और इसी लिये मैं, नाक से खुर्राटे भरने लगता था। इस प्रकार तीन रातें जागना पड़ा, चौथी रात सिपाही को नींद आगई, तब एक लोटा हाथ में ले बाहर निकला। यदि कोई देख पावे तो झट कहदूं कि शौच को जाता हूं। वहां से निकल कर गांव के बाहर

एक बाग़ में चला गया। प्रातःकाल होते ही एक वृक्ष पर चढ़ कर बैठ गया। इस भांति एक दिन भर इस वृक्ष के ऊपर भूखा बैठा रहा। रात को जब अन्धेरा होगया, सात बजे नीचे उतर कर चलदिया अपने गांव और घर के मनुष्यों से यह अन्तिम भेंट थी। इस के पश्चात् एक बार प्रयाग (इलाहाबाद) में मेरे गांव के बहुत से लोग मुझको मिले। परन्तु मैंने उन को अपना पता नहीं दिया, तब से आज तक कोई नहीं मिला।

सिद्धपुर से बड़ौदे को आया, वहां से नर्मदा नदी के तट पर विचरने लगा। इस समय नर्मदा के तटपर योगानन्द स्वामी रहते थे। यहां एक दक्षिणी ब्राह्मण कृष्णशास्त्री भी रहते थे, इन के पास मैं कुछ २ पढ़ता रहा। तत्पश्चात् गुरु के पास वेदों को पढ़ा २३ या २४ वर्ष की अवस्था में मुझे चाणूदक नाली में एक संन्यासी मिला। मुझे पढ़ने में बहुत ही अनुराग था और संन्यास आश्रम में पढ़ने का बहुत सुभीता होता है। इस लिये उसके उपदेश से मैंने श्राद्ध आदि करके संन्यास लेलिया, तब से ही दयानन्द सरस्वती

नाम धारण किया। मैंने दण्ड गुरु के पास धर दिया। चाणूद में दो गोसाई आये, जो राजयोग करते थे, मैं भी उनके साथ अहमदाबाद तक गया। वहां पर एक ब्रह्मचारी मिला। पर कुछ दिनों बाद मैंने उसका साथ छोड़ दिया। वहां से मैं जाते २ हरद्वार पहुँचा, वहां कुम्भ का मेला था। वहां से हिमालय पहाड़ पर उस जगह पहुँचा जहां से अलकनन्दा नदी निकलती है। बर्फ़ बहुत पड़ी हुई थी और पानी भी बहुत ठंढा था। वहां [illegible] लगने से पैर में कुछ तकलीफ हुई। हिमालय पर्वत [illegible] पहुँच कर यह विचार हुआ कि यहीं शरीर गलादूं। [illegible] मन में आया कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के बाद शरीर छोड़ना चाहिये। यह निश्चय करके मैं मथुरा में आया। वहां मुझे एक धर्मात्मा संन्यासी गुरु मिले। उनका नाम स्वामी विरजानन्द था, वे पहिले अलवर में रहते थे। इस समय उनकी अवस्था ८१ वर्ष की हो चुकी थी। उन्हें अभी तक वेद शास्त्र आदि आर्षग्रन्थों में बहुत रुचि थी। ये महात्मा दोनों आंखों से अन्धे थे, और इनके पेट में शूल का रोग था. ये कौमुदी और शेखर आदि

नवीन ग्रन्थों को अच्छा नहीं समझते थे और भागवत आदि पुराणों का भी खण्डन करते थे। सब आर्षग्रन्थों के वे बड़े भक्त थे। उन से भेंट होने पर उन्होंने कहा कि तीन वर्ष में व्याकरण आजाता है। मैंने उन के पास पढ़ने का पक्का निश्चय कर लिया। मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नामक थे, उन्हों ने मेरे पढ़ने के समय में जो २ उपकार मेरे साथ किये मैं उनको भूल नहीं सकता। पुस्तकों और खाने पीने का प्रबन्ध सब उन्होंने बड़ी उत्तमता से कर दिया था। जिस दिन उन्हें कहीं बाहर खाने के लिये जाना होता तो वे पहिले मेरे लिये भोजन बनाकर और मुझे खिलाकर बाहर जाते थे। सौभाग्य से ये उदारचेता महाशय मुझे मिल गये थे, विद्या समाप्त होने पर मैं आगरे में दो वर्ष तक रहा, परन्तु पत्रव्यवहार के द्वारा या कभी २ स्वयं गुरुकी सेवा में उपस्थित होकर अपने सन्देह निवृत्त करलेता था। आगरे से मैं ग्वालियर को गया, वहां कुछ २ वैष्णव मत का खण्डन आरम्भ किया वहां से भी स्वामी जी को पत्रादि भेजा करता था। वहां माधवमत के एक आचार्य अनुपत नामी

रहते थे । वे काकन का स्वांग भर कर शास्त्रार्थ सुनने बैठा करते थे । एक आध बार जब मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकला तो उन्होंने अशुद्धि पकड़ली । मैंने कईबार उनसे पूछा कि आप कौन हैं, परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैं एक काकन हूं, सुनने सुनाने से कुछ बोध प्राप्त हुआ है । एक दिन इस विषय में वार्त्तालाप हुआ कि वैष्णव लोग जो माथे पर खड़ी रेखा लगाते हैं, यह ठीक है या नहीं । मैंने कहा यदि खड़ी रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है तो सारा मुँह काला करने से स्वर्ग में भी कोई बड़ी पदवी मिलती होगी । यह सुनकर उनको बड़ा क्रोध आया और वे उठगये । तब लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि यही उस मत के आचार्य हैं ।

ग्वालियर से मैं रियासत करौली को गया, वहां पर एक कबीरपन्थी मिला, उसने एक बीर के अर्थ ये बीर किये थे और कहने लगा कि एक कबीर उपनिषद् भी है । वहां से फिर मैं जयपुर को गया, वहां हरिश्चन्द्र नामी एक बड़े विद्वान् पण्डित थे । वहां पहिले मैंने वैष्णव मत का खण्डन करके शैवमत स्थापन किया ।

जयपुर के राजा महाराज सवाई रामसिंह भी शैवमत की दीक्षा ले चुके थे। शैवमत के फैलने पर हज़ारों रुद्राक्ष की मालायें मैंने अपने हाथों से लोगों को पहनाई। वहां शैवमत का इतना प्रचार हुआ कि हाथी घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की माला पहिनाई गई।

जयपुर से मैं पुष्कर को गया, वहां से अजमेर आया। अजमेर पहुँच कर शैवमत का भी खण्डन करना आरम्भ किया। इसी बीच में जयपुर के महाराजा साहब लाट साहब से मिलने के लिये आगरे जाने वाले थे। इस आशंका से कि कहीं वृन्दावन निवासी प्रसिद्ध रंगाचार्य से शास्त्रार्थ न होजावे, राजा रामसिंह ने मुझे बुलाया और मैं भी जयपुर पहुँच गया। परन्तु यह मालूम होने पर कि मैंने शैवमत का खण्डन आरम्भ कर दिया है, राजा साहब अप्रसन्न हुये। इस लिये मैं भी जयपुर छोड़ कर मथुरा में स्वामी जी के पास गया और शंका समाधान किया। वहां से मैं फिर हरद्वार को गया, वहां अपने मठ पर पाखण्ड मर्दन लिखकर झण्डा खड़ा किया। वहां वादविवाद बहुत सा हुआ। फिर मेरे मन में यह

विचार उत्पन्न हुआ कि सारे जगत् से विरुद्ध हो कर भी गृहस्थों से बढ़कर पुस्तक आदि का जंजाल रखना ठीक नहीं है। इस लिये मैंने सब कुछ छोड़कर केवल एक कौपीन (लँगोट) लगा लिया और मौन धारण किया। इस समय जो शरीर में राख लगाना शुरू किया था, वह गतवर्ष बम्बई में आकर छोड़ा। वहां तक लगाता रहा था, जब से रेल में बैठना पड़ा, तब से कपड़े पर लगा। जो मैंने मौन धारण किया था, वह बहुत दिन रख न सका, क्योंकि बहुत से लोग मुझे पहचानते थे। एक दिन मेरी कुटी के द्वार पर एक मनुष्य यह कहने लगा "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" अर्थात् भागवत से बढ़कर और कुछ नहीं है, वेद भी भागवत से नीचे है।

तब तुझ से यह सहन न होसका, तब मौनव्रत को छोड़ कर मैंने भागवत का खण्डन प्रारम्भ किया। फिर यह सोचा कि ईश्वर की कृपा से जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान अपने को हुआ है, वह सब लोगों पर प्रकट करना चाहिये। इस विचार को मन में रखकर मैं फर्रुखाबाद को गया, वहां से रामगढ़ को गया। रामगढ़ में शालग्रा

शुरू किया वहां पर जब दो चार पण्डित बोलते थे, तब मैं कोलाहल शब्द कहा करता था, इस लिये आजतक वहां के लोग मुझको कोलाहल स्वामी कहा करते हैं। वहां पर चक्रांकितों के चेले दश आदमी मुझे मारने को आये थे, बड़ी कठिनता से उन से बचा वहां से मैं फ़र्रुखाबाद होकर कानपुर आया। कानपुर से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मारने वाले मुझे मारने को आये थे, पर एक माधव प्रसाद नामी धर्मात्मा पुरुष था, उस ने मुझे बचा दिया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत ग्रहण करने को तैयार था, इसने सब पण्डितों को नोटिस दे रक्खा था कि यदि अपने आर्य धर्म में तीन महीनों के भीतर मेरा विश्वास न कराओगे तो मैं ईसाई धर्म को स्वीकार करलूंगा। मेरे आर्य धर्म पर निश्चय दिला देने से वह ईसाई न हुआ। प्रयाग से मैं रामनगर को गया। वहां के राजा की इच्छा नुसार काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में यह विषय प्रविष्ट था कि वेदों में मूर्तिपूजा है या नहीं। मैंने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि प्रतिमा शब्द तो वेदो में मिलता है, परन्तु उस के अर्थ तौल, नाप आदि

के हैं। वह शास्त्रार्थ अलग छपकर प्रकाशित हुआ, जिसको सज्जन पुरुष अवलोकन करेंगे।

इतिहास शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थही समझने चाहिये, इस पर भी शास्त्रार्थ हुआ था। गतवर्ष के भाद्रपद मास में मैं काशी में था; आजतक चार बार काशी में आचुका हूं, जब जब काशी में जाता हूं, तब २ विज्ञापन देता हूं कि यदि किसी को वेद में मूर्त्तिपूजा का प्रमाण मिला हो तो मेरे पास लेकर आवे। परन्तु अबतक कोई भी प्रमाण नहीं निकल सका।

इस प्रकार उत्तरीय भारत के समस्त भागों में मैंने भ्रमण किया है। दो वर्ष हुये कि कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जयपुर आदि नगरों में मैंने बहुत से लोगों को धर्म्मोपदेश दिया है। काशी, फर्रुखाबाद आदि नगरों में चार पाठशालायें आर्य्य विद्या पढ़ाने के लिये स्थापित की हैं उन में अध्यापकों की उच्छृङ्खलता से जैसा लाभ कि पहुँचना चाहिये था नहीं पहुँचा। गतवर्ष बम्बई आया। यहां मैंने गुसाईं महाराज के चरित्रों की बहुत कुछ छानबीन की। बम्बई में आर्य्य समाज स्थापित

होगया । बम्बई, अहमदाबाद, राजकोट आदि प्रान्तों में कुछ दिन धर्म्मोपदेश किया, अब तुम्हारे इस नगर में दो महीनों से आया हुआ हूं ।

यह मेरा पिछला इतिहास है, आर्य्य धर्म्म की उन्नति के लिये मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आप के देश में होने चाहियें । ऐसा काम अकेला आदमी भली प्रकार नहीं कर सकता ; फिर भी यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार जो कुछ दीक्षा ली है उसे कमाऊंगा ।

अब अन्त में ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूं कि सर्वत्र आर्य समाज क़ायम होकर मूर्ति पूजादि दुराचार दूर होजावें, वेद शास्त्रों का सच्चा अर्थ सब की समझ में आवे और उन्हीं के अनुसार लोगों का आचरण होकर देश की उन्नति होजावे । पूरी आशा है कि आप सब सज्जनों की सहायता से मेरी यह इच्छा पूर्ण होगी ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

समाप्तोऽयम् ग्रन्थः ।

भारतवर्ष की वीर और विदुषी स्त्रियां

प्रथम भाग।

यदि आप अपनी प्राण-प्यारी स्त्री तथा सन्तान को उत्तम बनाना चाहते हैं और उनसे कुछ दिली प्रेम है व जो प्राचीन पतिव्रता तथा वीर स्त्रियों के चरित्र सुनकर शिक्षायुक्त बनाना है तो एक बार उपर्युक्त पुस्तक को अवश्य पढ़ाइये और सुनाइये, इस पुस्तक के पढ़ने तथा सुनने से चित्त पर ऐसा असर होता है कि कुमार्गी स्त्री भी सुमार्ग पर आ सकती है उसको कितना ही दुःख क्यों न हो इसको सुनते ही चित्त प्रफुल्लित होजाता है, पुस्तक आरम्भ करके बीच समाप्त किये छोड़ने को चित्त नहीं चाहता, इस पुस्तक में निम्नलिखित स्त्रियों के जीवन चरित्र हैं—१ पद्मिनी २ वीरमती ३ चन्दलकुमारी ४ सुन्दर बाई ५ दुर्गा ६ उर्मिला ७ राजबाला ८ अच्छनकुमारी।

यह पुस्तक सफ़ेद बढ़िया काग़ज़ और बम्बई के सुन्दर अक्षरों में होने पर भी मूल्य ।) ही आना रक्खा है।

द्वितीय भाग मूल्य =)॥ आना।

श्यामलाल वर्म्मा,

आर्य्यबुक सेलर, बांसबरेली.

❀ ग्रन्थों की सूचीक ❀

स्त्री ज्ञान प्रकाश १ से भाग ।=) संगीत रत्न प्रकाश भाग ॥=) नवरत्न दोहे माला ॥=) उर्दू =)॥ भजन पचास =) वनिताविनोद =) [illegible] =) भजन संग्रह =) भजन बत्तीसी वासुदेव =) अबला सुधार भजन बत्तीसी सजीवन बूटी गागरी =) ज्ञान भजनावली चार भाग। जगत भजन संग्रह =) भले भविष्यत =)।। सुमति १) पंचदृष्टान्त उर्दू ॥=) सती पुराण उर्दू ॥=) वीर मातायें ॥) सा [illegible] वियां =) राजस्थानी दोहे रासियां =) नारायणी वीर १) वीर [illegible] देवियां १) [illegible] कवित १॥=) नारीधर्मशिक्षा दो भाग १॥) कुटि [illegible] मुक्ती हर उर्दू १॥) न्यायदर्पण ॥=) भारतवर्ष का वीर और विदुषी स्त्रियां भाग १.२ दो ॥=) भारतवर्षकी सच्चीदेवियां =) भारतवर्षकी वीरमात ॥=) हवन सामग्री =) सेर हवन कुण्ड ॥=) से. १) [illegible] अनेक =) से =) कोठी नल एक अलवर स्टी ॥)

हर प्रकार की पुस्तकें मिलती हैं।

श्यामलाल शर्मा,

आर्यपुस्तकालय, चांदपोल।

गुरु विरजानन्द दण्डी
सन्दर्भ पुस्तकालय
पुस्तक संख्या .. 400
दयानन्द महिला महा